दिव्य गुणों का गुलदस्ता

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय
पाण्डव भवन, आबू पर्वत (राजस्थान)

स्वयं परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो ज्ञान दिया और दे रहे हैं, उसे ही इस पुस्तक के रूप में संकलित और सम्पादित किया गया है।

प्रकाशक :
पुस्तक मिलने का पता:
मुद्रक:
कॉपी राइट:

कहाँ क्या है ?

१. दिव्य गुणों का गुलदस्ता (सम्पादकीय)
२. फरिश्ता अथवा पद्मापद्म भाग्यशाली बनने का पुरुषार्थ
३. पहला दिन – अन्तर्मुखता और गम्भीरता
४. दूसरा दिन – सहनशीलता और धैर्य
५. तीसरा दिन – हर्षितमुखता, मधुरता और शीतलता
६. चौथा दिन – नम्रता और निरहंकारिता
७. पाँचवाँ दिन – सन्तुष्टता और सरलता
८. छठवाँ दिन – त्याग, उदारता और सेवा
९. सातवाँ दिन – निर्भयता, निश्चिन्तता, निस्संकल्पता, अडोलता और एकरस तथा साक्षी अवस्था
१०. आठवाँ दिन – गुण-ग्राहकता, स्नेह और रहमदिली
११. कदम-कदम में पद्म-पद्म
१२. मुझे आप तीन व्यर्थ चीज़ें दे दो

चित्र-सूची

१. पत्थर भी पूजनीय मूर्ति
२. पत्थर भी पूजनीय शालीग्राम
३. नम्रचित्त
४. तूफान लिफ्ट

५. तूफानों के तोफे

भूमिका

दिव्य गुणों का गुलदस्ता

संसार में जितने भी कलह-क्लेश हैं, उनका मूल कारण किसी-न-किसी दिव्य गुण ही का अभाव है। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में जो अन्तर है, वह भी किसी-न-किसी दिव्य गुण ही की कमी के कारण से है। अत: अवगुणों एवं दुर्गुणों को छोड़ने तथा गुणों को धारण करने के लिए प्रेरित करना ही संसार के सभी दर्शनों एवं धर्म-ग्रन्थों का लक्ष्य है।

सभी दिव्य गुणों के अतुल भण्डार तो भगवान स्वयं ही हैं। वे ही धर्म-ग्लानि के समय अवतरित होकर आसुरी लक्षणों को छोड़ने तथा दैवी सम्पदा को धारण करने के लिए मार्ग-प्रदर्शना देते हैं।

जो मनुष्य भगवान की मूर्ति मानते हैं, वे जन्म-जन्मान्तर भक्ति-भाव से उस पर फूल चढ़ाते हैं और जो भगवान की कोई प्रतिमा नहीं मानते वे वचनों द्वारा भगवान को श्रद्धा रूप पुष्प अर्पित करते हैं। परन्तु जब भगवान स्वयं अवतरित होते हैं तो वे भक्तों को दिव्य गुणों का गुलदस्ता स्नेह-भेंट के रूप में देते हैं।

वर्तमान समय दिव्य गुणों के भण्डारी परमपिता परमात्मा ने प्रजापिता ब्रह्मा के श्री-मुख से दिव्य गुणों के बारे में जो मार्ग-प्रदर्शना दी है, उसी के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। इसलिए इसका नाम 'दिव्य गुणों का गुलदस्ता' रखा गया है। इसमें प्रभु के स्नेह की सुगन्धि है।

इसे आम बोलचाल की भाषा में लिखा गया है ताकि जिन्हें भाषा का अधिक ज्ञान नहीं हैं, वे भी इससे लाभान्वित हो सकें ।

– ब्र.कु. जगदीशचन्द्र हसीजा (मुख्य सम्पादक)

प्राक्कथन

फरिश्ता अथवा पद्मापद्म भाग्यशाली बनने का पुरुषार्थ

अब जो समय चल रहा है, इसे 'पुरुषोत्तम संगमयुग' कहा जाता है। अब कलियुग जा रहा है और सत-युग आ रहा है। अब हम ईश्वरीय ज्ञान की धारणा करके अपने जीवन को उच्च और निर्विकार बनाने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। इस ईश्वरीय ज्ञान की धारणा का लक्ष्य है – मनुष्य से देवता बनना। देवताई जीवन और दैवी प्रालबध तो सतयुग में ही मिलेंगे; अभी जो हमारा पुरुषार्थ चल रहा है, उसका लक्ष्य तो फरिश्ता बनना अथवा अव्यक्त अवस्था को प्राप्त करना है। इसके लिए हमें ज्ञान-मूर्ति के अति-रिक्त गुण-मूर्ति भी बनना है। दिव्य गुणों की धारणा के बिना हम फरिश्ता नहीं बन सकते, अव्यक्त स्थिति में भी स्थित नहीं हो सकते और भविष्य में देवताई जीवन भी प्राप्त नहीं कर सकते।

वास्तव में ईश्वरीय ज्ञान और दिव्य गुणों का आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान बीज है, दिव्य गुण उसका फल है। यदि जीवन में दिव्य गुण नहीं हैं तो समझना चाहिए कि या तो ज्ञान रूपी बीज बोये ही नहीं गये या वे ठीक प्रकार से नहीं बोये गये या ठीक रीति से सींचे तथा सम्भाले नहीं गये। अत: दिव्य गुणों की धारणा के लिए ईश्वरीय ज्ञान को ठीक तरह से समझना चाहिए। जितना-जितना हमारी ज्ञान की नींव ठीक, पक्की और गहरी होगी उतनी ही हमारे दिव्य गुणों की इमारत मज़बूत और ऊंची बन सकेगी। यदि हम किसी दिव्य गुण की ठीक तरह धारणा नहीं कर पाते तो समझना चाहिए कि हम ज्ञान के किसी पहलू या प्वाइन्ट में कच्चे अथवा कमज़ोर हैं या हमको ज्ञान के उस प्वाइन्ट को प्रैक्टिकल रीति से प्रयोग करना नहीं आता। यदि बुद्धि में ज्ञान पूरी तरह और ठीक नहीं बैठा होगा अथवा यदि ज्ञान में पूर्ण निश्चय नहीं होगा तो पुरुषार्थ भी पूर्ण, ठीक और एकरस नहीं होगा बल्कि ढीला होगा।

उच्च पुरुषार्थी के लक्षण

आज तो 'पुरुषार्थ' शब्द का भी लोग ग़लत प्रयोग करने लगे हैं। वास्तव में पुरुषार्थी तो वह है जो एक बार की हुई भूल को दोबारा न होने दे। परन्तु आज कई लोग बार-बार भूल करते हैं और जब कोई उन्हें सावधान करता है तो वे कहते हैं – ''यह भूल तो हो ही जाती है। क्या करें, हम पुरुषार्थी जो हैं, अभी कोई सम्पूर्ण थोड़े ही बने हैं।'' वे 'पुरुषार्थी' शब्द का इस प्रकार प्रयोग करके अलबेले और ढीले पड़ जाते हैं। इस तरह वे अपने जीवन को श्रेष्ठ नहीं बना पाते और सृष्टि के महाविनाश के प्रारम्भ तक वे अपने दुर्गुणों से युद्ध ही करते रहते हैं, विजय प्राप्त नहीं कर पाते। अत: वे पुरुषार्थी ही बने रहते हैं, विजय प्राप्त नहीं करते अर्थात् सम्पूर्ण (पवित्र) नहीं बन पाते! इस प्रकार वे अपने अलबेलेपन अथवा ढील के कारण जन्म-जन्मान्तर के लिए अपनी तकदीर को लकीर लगा देते हैं। स्वयं परमात्मा द्वारा सर्वोत्तम पढ़ाई मिलने पर भी वे सर्वोत्तम अवस्था के लिए तीव्र पुरुषार्थ नहीं करते!!

काल को आता देखकर ऑखें बन्द नहीं करनी चाहिए

जब भोला कबूतर बिल्ली को आते देखता है तो ऑखें बन्द कर लेता है और सोचता है कि बिल्ली नहीं आ रही। इतने में बिल्ली पहुँच कर उसकी गर्दन पकड़ लेती है। ऐसी हालत उन मनुष्यों की है जो इस ख्याल में रहते हैं कि अभी तो मृत्यु बहुत दूर है। वे यह भूल जाते हैं कि हर क्षण मृत्यु का एक कदम है। इसी तरह, कुछ लोग ऐसे भी हैं कि वे एटम और हाईड्रोजन बमों रूपी बिल्ली को अर्थात् महाविनाश को सामने आते देखकर भी ऑखें बन्द कर लेते हैं। ऐसे भोले कबूतर बनने से तो अपनी ही जान पर बन आएगी।

हमारे कथन का यह भाव नहीं है कि हम मौत से डर जाएं अर्थात् विनाश से चिन्तित हो जाएं। पर, स्नेह-वश हमारा अनुरोध तो बस इतना मात्र है कि हम आध्यात्मिक जीवन में आलस्य, अलबेलेपन और टाल-मटोल को छोड़ दें। जब हम जानते हैं कि काल किसी भी समय आ सकता है तो ज्ञान और योग के पंखों से उड़ान भरने का समय अभी है।

'मगर...मगर' करने वाले को मगरमच्छ पकड़ लेता है

कुछ लोगों का स्वभाव बन जाता है कि थोड़ी-सी कठिनाई सामने आये तो उनका पुरुषार्थ रुक जाता है। घर में बच्चे हैं, तो कई लोग कहते हैं –''हम प्रतिदिन ज्ञान सुनना तो चाहते हैं मगर क्या करें, हमारे घर में बच्चे हैं इसलिए हमें समय नहीं मिलता...।'' अन्य कई कहते हैं –''हम योगाभ्यास के अभि-लाषी हैं, मगर आजकल सर्दी है, हम तीन मास तो आपके योग-केन्द्र पर आ नहीं सकेंगे।'' अन्य कई कहते हैं –''प्रभु-मिलन की इच्छा भला किसे नहीं होगी ? हम चाहते हैं कि यहाँ आकर आध्यात्मिक लाभ लें मगर चाहते हुए भी अभी कुछ मास हम नहीं आ सकेंगे क्योंकि हमारे बच्चे का विवाह होने वाला है और हम उस कार्य में व्यस्त हैं...।'' इस प्रकार सभी को 'मगर' रूपी मगरमच्छ ने संसार सागर में पकड़ रखा है। जो सच्चा पुरुषार्थी होता है, वह 'मगर' रूपी मगरमच्छ से बच कर रहता है। वह जीवन को उच्च बनाने के पुरुषार्थ में निरन्तर लगा ही रहता है। सांसारिक कर्तव्यों को वह निभाता है परन्तु उनके कारण पारमार्थिक उद्यम में भी ढीलापन नहीं आने देता।

पुरुषार्थी में अलबेलापन, थकावट या आराम-पसन्दी नहीं होती

जब पुरुषार्थी देखता है कि परीक्षा के दिन निकट आ गये हैं तब वह दिन और रात का ख्याल नहीं करता बल्कि उच्च दर्जा लेने के विचार से वह अपनी कमियों और कमज़ोरियों को पूरा करने में लग जाता है और खूब मन लगा कर पुरुषार्थ करता है। अत: अब जबकि हम जानते हैं कि हमारा कोर्स (म्दलै) पूरा हो चुका है,ङ अब पढ़ाई दुहराने (िंनेग्दह म्दलै) का समय चल रहा है और अब बहुत थोड़ा समय इस पढ़ाई को प्रैक्टिकल जीवन में धारण करने के लिए बाकी है, तो फिर हमें आराम हराम कर देना चाहिए और जी-जान लगा कर सभी दिव्य गुणों में स्वयं को प्रवीण बनाने का पूरा पुरुषार्थ करना

चाहिए। संसार में जो इतिहास-भूगोल, गणित, भाषा, विज्ञान और राजनीति आदि-आदि की शिक्षा लेते हैं, वे यदि एक वर्ष अपनी परीक्षा में पास नहीं होते तो दूसरे वर्ष वे फिर भी परीक्षा दे देते हैं। तो भी एक वर्ष असफल होने के कारण उन्हें पश्चताप् और दु:ख तो होता ही है! परन्तु हमारी यह जो पढ़ाई है, इसकी परीक्षा के लिए दूसरा तो कोई अवसर आना ही नहीं है। यह ईश्वरीय ज्ञान तो कलियुग के अन्त में, सतयुग लाने के लिए ज्ञान-सागर परमपिता परमात्मा एक ही बार देते हैं और महाविनाश से पूर्व यदि हम इसे अपने जीवन में धारण करके सर्वगुण सम्पन्न नहीं बनेंगे, तब फिर इसके लिए दूसरा तो कोई अवसर ही नहीं है। सोचिए कि यदि इसमें हम फेल (ईंग्त) हो गए तो हमारा कितना भारी नुकसान होगा! फिर लौकिक विद्या को पढ़ने वालों के तो सारे जीवन का आधार अपनी पढ़ाई पर नहीं होता परन्तु हमारे तो भविष्य के २१ जन्मों का पद हमारे वर्तमान जीवन के पुरुषार्थ पर आधारित है। हमारा स्वास्थ्य (पॅलू),सुख (ॅीलू) और खुशी (प्ज्ज्ग्हो) इसी पर निर्भर करते हैं। अत: इसके लिए कितना तीव्र पुरुषार्थ करने की ज़रूरत है! तो जबकि हमारा यही पुरुषार्थ हमारे भावी २१ जन्मों के लिए कमाई का भी साधन है और सब प्रकार के सुखों का भी, तो फिर हमें थकावट क्यों होनी चाहिए? फिर हम में अलबेलापन क्यों?

लक्ष्य-भेद

कहते हैं कि अर्जुन ने मछली की ऑख के प्रतिबिम्ब पर ही ध्यान केन्द्रित करके तीर छोड़ा और इस प्रकार स्वयंवर की शर्त को पूरा कर द्रौपदी को प्राप्त किया। इस रूपक में 'मछली' ज्ञान की प्यासी आत्मा का प्रतीक है, 'बाण' पुरुषार्थ का वाचक है और मछली की आंख लक्ष्य-बिन्दु का प्रतीक है। वास्तव में इसका भावार्थ यह है कि यदि मनुष्य ज्ञान के आधार पर लक्ष्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और लक्ष्य पर ही पुरुषार्थ रूपी बाण चलाता है तो वह अवश्य 'ध्रुव-पद' प्राप्त कर लेता है, अर्थात् एकरस, अव्यक्त स्थिति प्राप्त कर लेता है। यहाँ अर्जुन का अर्थ 'ज्ञान-अर्जित' करने वाला है।

पुरुषार्थ लोकलाज और समाज की दीवारों से नहीं घबराता

संसार में जब दो व्यक्तियों का पारस्परिक लौकिक प्रेम हो जाता है तो वे उस प्रेम में इतने मस्त हो जाते हैं कि लोकलाज की भी चिन्ता नहीं करते और लोगों द्वारा खड़ी की हुई दीवारों से भी नहीं घबराते। परन्तु हमारा तो प्रेम ईश्वर से है, हमारा प्यार तो सबके सद्गतिदाता एवं परमपिता से है, तब लोकलाज तथा लोगों द्वारा खड़ी की हुई दीवारों के कारण हमारे पुरुषार्थ में भी कमी क्यों होनी चाहिए? जिस परमपिता परमात्मा को प्राप्त करने से सर्व प्राप्तियाँ हो जाती हैं, अब उसको प्राप्त कर लेने पर तो हमारा सम्बन्ध पूरी तरह उससे होना चाहिए। अत: जब वह हमारी ही सद्गति करने के लिए हमें ज्ञान देने और योग सिखाने के उद्देश्य से अवतरित हुआ है तो फिर सीखने तथा अपनी सद्गति के लिए पुरु-

षार्थ करने में हमारी ओर से ढीलापन क्यों आना चाहिए? इस पुरुषार्थ के बारे में तो प्रसिद्ध है कि ''कोटि-कोटि में से कोई विरला ही यह पुरुषार्थ करता है'', अत: पुरुषार्थ न करने वाले करोड़ों लोगों की आलोचना से हम क्यों डरें?

इन बातों को सोचकर हमें अब अलबेलापन छोड़ना चाहिए और थकावट, आराम की आदत, लोक-लाज के डर आदि-आदि से तथा अपने ही संकल्पों से बनाई हुई ऊंची-ऊंची दीवारों से अपने पुरुषार्थ में रुकना या ढीला नहीं होना चाहिए। हमें पुरुषार्थ के लिए एक बार जो इशारा मिले, हम उसे खुशी-खुशी, स्फूर्ति से, बार-बार कहलाये बिना अपना कर्तव्य और लाभ समझकर तीव्रता से करें।

फिर यदि हम यह याद रखें कि हरेक दिव्य गुण पद्मों रुपये मूल्य का है और उसे धारणकरने से हम पद्मापद्म भाग्यशाली अथवा सतयुगी विश्व के महाराजन् बनेंगे तो हमारे पुरुषार्थ में स्वाभाविक रूप से तीव्रता आयेगी ही।

हरेक दिव्य गुण अनमोल – कैसे?

उदाहरण के तौर पर 'अन्तर्मुखता' रूपी दिव्यगुण पर विचार कीजिए। अन्तर्मुखता को धारण करने से जो आन्तरिक सुख मिलता है, उसके लिए तो द्वापरयुग तथा कलियुग के कई राजाओं ने राज्य भी त्याग दिया! अवश्य ही अन्तर्मुखता से वह आत्मिक सुख मिलता है जोकि महल-माड़ी, दास-दासियाँ और धन-सम्पत्ति होने पर भी नहीं मिलता।

इस तरह, सहनशीलता पर विचार कीजिए। एक मिनट की सहनशीलता से मनुष्य का जीवन भी बच जाता है और जायदाद भी। यदि एक मनुष्य क्रोध में आ कर झगड़ा करे और दूसरा उसे सहन न करे तो आप प्रतिदिन समाचार पढ़ते होंगे कि जीवन से या जायदाद से भी हाथ धोने की नौबत आ जाती है क्योंकि झगड़ा और दुश्मनी बढ़ जाती है और कई व्यक्ति छुरा मार देते या आग भी लगा देते हैं। यदि एक मिनट के लिए मनुष्य चुप रहे, सहन कर ले अथवा क्षमा माँग ले तो दूसरे के शीतल हो जाने पर सारी बात का निर्णय तथा निपटारा किया जा सकता है।

इस प्रकार 'दान' और 'त्याग' भी अनमोल गुण है। इस कलियुगी तमोप्रधान और नष्ट होने वाली सृष्टि में ईश्वरार्थ डायरेक्ट चावलों की एक मुट्ठी देने से भविष्य में सोने का महल मिलता है। सुदामा का किस्सा भी हमारे सामने है। जो त्याग करता है गोया वह भाग्य बनाता है।

ज्ञान द्वारा सच्ची सेवा करने से मनुष्य को भविष्य में यह मेला मिलता है कि वह ताज और तख्त का अधिकारी बनता है। दूसरों की सेवा करना गोया अपनी सेवा करना है क्योंकि इससे मनुष्य मन-पसन्द, लोक-पसन्द और प्रभु-पसन्द बनकर विश्व के स्वराज्य पद के लिए मानो सबका वोट प्राप्त कर लेता है।

'हर्षितमुखता' मनुष्य के मुख का सच्चा सौन्दर्य (ौलू) अथवा श्रृंगार है। जो मनुष्य कुढ़ा रहता है, वही

वास्तव में कुरूप है।
शीतलता मनुष्य की बुद्धि में रखा हुआ फ्रिज (ँ्गुँ्दे) है जोकि ईश्वरीय याद को तथा ज्ञान को ताज़ा रखता है। यह एक कूलर (ण्ददती) है जिससे मनुष्य की कार्य-क्षमता (ग्ंम्गहम्ब) बढ़ती है और वह योग द्वारा इतनी कमाई कर सकता है कि सतयुग में उसके खज़ानों में अनगिनत हीरे और धन हों।
सन्तुष्टता तो जी (मन) को सुख देने वाला ही है। कहावत है कि जी सुखी तो जहान सुखी। यदि सन्तुष्टता न हो तो चाहे मनुष्य सारे जहान का बादशाह हो, उसे आन्तरिक एवं सच्चा सुख नहीं होता। तो क्या वह पद्मों-तुल्य गुण न हुआ?
नम्रता और 'निरहंकारिता' भी बहुत उच्च दिव्यगुण हैं। नम्रता और निरहंकारिता वाला मनुष्य टूटता नहीं क्योंकि उसमें लचक होती है और वह झुक जाता है। अत: उसका सभी से स्नेह और सम्बन्ध बन रहता है। स्नेह और सम्बन्ध बना रहता है। स्नेह और सम्बन्ध ही तो प्राप्ति का आधार है। जितना परमात्मा से स्नेह तथा सम्बन्ध है, उसे परमात्मा से पूरी प्राप्ति होती है। ऐसा व्यक्ति पूरी तरह नम्र और निरहंकारी होता है और जनता तथा परमात्मा से आशीर्वाद प्राप्त करता है। निरहंकारिता तो सभी दिव्य गुणों फलों का रस अथवा सार है। जिसमें यह गुण है, उसमें 'आनन्द और ईश्वरीय शक्ति' की झलक होती है। नम्रता तो नौलखा हार से भी अधिक मूल्यवान है जो मनुष्य का ध्यान अपनी ओर खिंचवाता और शोभा बढ़ाता है।
सरलता मन की सफाई है, कुटिलता कचड़ा हे। जैसे गन्दगी से कीटाणु पैदा होते और स्वास्थ्य बिगड़ता है, वैसे ही कुटिलता से मनुष्य 'स्व' में स्थित नहीं हो सकता और उसमें कई दुर्गुण रूपी कीटाणु पैदा हो जाते हैं। सरलता से मनुष्य स्वस्थ होता है और वह सबको अच्छा लगता है। स्वास्थ्य और स्व-स्थिति के लिए तो धनी करोड़ों रुपये भी खर्च करने को तैयार होते हैं।
गम्भीरता जिस मनुष्य में होती है, वह हरेक कार्य को सोच-समझकर करता है; इसलिए उसके कार्य में सफलता मिलती है। गम्भीर मनुष्य को धन, शक्ति, समय और जीवन की बचत होती है, वे व्यर्थ नहीं होते। समय, शक्ति आदि ही तो धन है। अत: गम्भीरता भी पद्मों-तुल्य है।
जिसका धीरज टूट जाता है उसका दिल भी टूट जाता है। धैर्य वाले मनुष्य में हिम्मत होती है, हिम्मत करने वाले को ही खुदा की मदद (ईश्वरीय सहायता) मिलती है और ईश्वरीय मदद से सफलता मिलती है।
निर्भयता जीवन-दान देने वाली है, वर्ना भय मृतयु की तरह आत्मा को पीड़ा देने वाला होता है। निर्भय मनुष्य ही मृत्यु के पंजे से तथा सब विघ्नों से छूट जाता है।
अडोल रहने वाले को ही सतयुग में अडोल सिंहासन और निर्विघ्न राज्य मिलता है।
इस प्रकार आप देखेंगे कि एक-एक गुण अपार सुख को देने वाला है। जब आप दिव्य गुणों को इस

दृष्टि से देखेंगे तो उन्हें धारण करने के लिए आपके मन में पूरा उत्साह आयेगा और आप उनके लिए पूर्ण पुरुषार्थ करेंगे।

जन्म-जन्मान्तर हमने भक्ति की और भगवान पर फूल-मालाएं चढ़ाई। अब भगवान हमें इन दिव्य गुणों की माला की भेंट कर रहे हैं। ये अनमोल रत्नों की माला है। भगवान की इस स्नेह-भेंट को हमें धारण करना चाहिए। यह हमारे सौभाग्य की निशानी है। इससे हम पद्मापद्म भाग्यशाली बन सकते हैं।

–सम्पादक

पहला दिन –

अन्तर्मुखता और गम्भीरता

ब्रह्माकुमारी – आज के मनुष्य की दिनचर्या पर यदि आप ध्यान दें तो आप देखेंगे कि भले ही वह भक्ति करते हुए कहता है कि – ''हे प्रभु, मैं आपका दास हूँ'' परन्तु वास्तव में वह अपने आचरण में है अपनी इन्द्रियों का दास अथवा माया का मुरीद। कभी उसे जिह्वा अपने किसी विषय-पदार्थ के रस की स्मृति दिला देती है और उसे चस्के की डोर में डाल कर अपनी ओर खींच लेती है तो कभी ऑखें उसे धोखा देकर प्रकृति के पुतलों के पीछे, अर्थात् किसी नाम-रूप के पीछे, पागल कर देती है। कभी उसके कान इसकी-उसकी व्यर्थ चर्चा सुनने के लिए उसमें दिलचस्पी पैदा कर देते हैं तो कभी उसका मुख (वाच्येन्द्रिय) उसे गपशप या व्यर्थ के वार्तालाप की हॉबी (प्दंब) में लगा देता है। सारा दिन इन्द्रियों के व्यापार में लग कर मनुष्य अपने स्वरूप की विस्मृति में रहता है, अर्थात् भृकुटि में जो आत्मा है, उसकी याद उसे नहीं आती। इस प्रकार, उसकी वृत्ति अन्तर में आत्मा की ओर न टिक कर, बाहर कभी तो पान-पकवान की ओर भागती है, कभी वह अपने देह और वस्त्रों की अधिकाधिक सजधज और बनाव - श्रृंगार में लग जाती है तो कभी वह फिल्म-सिनेमा या ज्यादा घूमने-देखने के शौक में भटक जाती है। उसका मन भी किसी-न-किसी पदार्थ का ही चिन्तन करता रहता है। वह दो घड़ी-भर भी आराम से बैठ कर अन्तर में जो आत्मा है, उसमें स्थित नहीं होता और आत्मिक सुख कारस नहीं लेता, अर्थात् वह 'अन्तर्मुखी' न होकर 'बाह्यमुखी' बना रहता है। ऐसे बाह्यमुखी मनुष्य को स्थायी शान्ति नहीं होती। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह अन्तर्मुखता को धारण करे। अन्तर्मुखता सभी दिव्य गुणों की खान है। इस गुण की धारणा पर यदि पूरा ध्यान दिया जाये तो और गुण इस गुण के साथ-ही-साथ आ जाते हैं।

जिज्ञासु – बहन जी, आपने पहले एक बार समझाया था कि दिव्य गुणों की धारणा से मनुष्य 'देवता' बनता है और आसुरी गुणों की धारण से 'असुर'। अब यदि एक 'अन्तर्मुखता' को धारण कर लेने से मनुष्य में सभी दिव्य गुण आ जाते हैं तो मैं तो इस गुण को धारण करने के लिए पूरा पुरुषार्थ करूँगा। परन्तु, बहन जी, मुझे थोड़ा और स्पष्ट समझाइये कि इस गुण को 'अन्तर्मुखता' क्यों कहते हैं और अन्तर्मुखता को धारण करने से क्या अभिप्राय है?

अन्तर्मुखता में 'मुख' शब्द क्यों?

ब्रह्माकुमारी – देखिये, 'मुख ही सारे शरीर में मुख्य है। शरीर के इस भाग में ही देखने, सुनने, बोलने, खाने आदि की इन्द्रियाँ तथा सोचने का साधन 'मस्तिष्क' भी है। अब बाप जानते हैं कि यही इन्द्रियाँ मुख्य हैं; इन्हीं द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करके सुख का भागी बन सकता है और यदि वह मस्तिष्क के

द्वारा पाप की बातें सोचे, ऑखों द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह या अहंकार की दृष्टि से देखे, कानों द्वारा अश्लील अथवा पतन की बातें सुने, मुख द्वारा कड़वा या दु:खदायक वचन बोले अथवा खान-पान के व्यसन में पड़ जाये तो वह दु:ख का भागी बनता है। अब जो मनुष्य शरीर के अन्तर में की आत्मा को नहीं जानता अथवा जानते हुए भी उसको भूल जाता है, वह तो विषय-विकारों में पड़ कर अपने जीवन को गँवा देता है परन्तु जो जानता है और याद रखता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, बल्कि शरीर में रहने वाला एक आत्मा हूँ, उसका देखना, सुनना, सोचना, बोलना आदि निराला होता है। वह अन्तरात्मा के स्वरूप में स्थित होकर कर्म करता है; इसलिए उसे 'अन्तर्मुखी' कहते हैं।

अन्तर्मुखता का भावार्थ

अत: अन्तर्मुखता को धारण करने का एक भावार्थ तो यह है कि मुख में जो ऑख, कान आदि इन्द्रियाँ हैं, उन द्वारा मनुष्य केवल वही दृश्य देखे, वही बातें सुने, वही वचन बोले, वैसा ही भोजन करे जिससे कि देह के अन्तर में स्थित आत्मा की उन्नति हो। आत्मा से विमुख होकर वह कर्म न करे। इस प्रकार, अन्तर्मुखता में 'बुरा मत मानो' (र्पै हद ान्त), 'बुरा मत बोलो' (ऊँत्व् हद ान्त), 'बुरा मत देखो'(एा हद ान्त), 'बुरा मत सोचो' (ऊप्हव् हद ान्त) आदि की शिक्षा की धारणा समाई हुई है। 'विमुख होना' का अर्थ 'ध्यान न देना' या 'विपरीत होना' है, वैसे ही 'मुख'शब्द का अर्थ 'ध्यान देना' है। अत: अन्तर्मुख का अर्थ है – अन्तर में जो आत्मा है, उसकी ओर ध्यान देना, उसकी उन्नति का ख्याल रखना।

दूसरे, अन्तर्मुखता का यह भी अर्थ है कि जो भी कर्म करो, उसको करते समय बुद्धि में अन्तस्थित आत्मा की समृति हो। उदाहरण के तौर पर जब मनुष्य ऑखों द्वारा देखता है तो बाहर के दृश्य में ही न खो जाये बल्कि यह याद रखे कि बाहरी ऑखों द्वारा देखने वाला, अन्दर मैं आत्मा हूँ। ऑखें तो मानो एक कैमरा (र्ण्सें) या लेन्स (थहो, देखने का शीशा) है जोकि मस्तिष्क पर वस्तु का प्रतिबिम्ब डालते हैं, परन्तु मैं इसका मालिक एक चेतन आत्मा हूँ। जब वह मुख से बोलता है, तो उसे स्मृति रहनी चाहिए कि यह मुख तो माइक्रोफोन की तरह एक यन्त्र है; बाहर-स्थित मुख से बोलने वाला, अन्तर-स्थित मैं एक आत्मा हूँ। इस प्रकार, वह हर कार्य-व्यवहार करता हुआ स्वयं को देह न निश्चय करके, मुख के ऊपरी भाग, अर्थात् मस्तिष्क अथवा भकृटि के अन्तर में रहने वाली 'आत्मा' निश्चय करे। अत: अन्तर्मुखता का भावार्थ है – 'आत्मा-निश्चय बुद्धि' (एदल्त्-ण्दहेम्मदले) होना अथवा शरीर में रहते हुए भी विदेही स्थिति को प्राप्त होना।

''भृकुटि के अन्दर मैं आत्मा हूँ''

तीसरे, अन्तर्मुखता का भी यह अर्थ है कि हम ऑख, कान आदि द्वारा बाह्य जगत में जो कुछ देखते-सुनते हैं, उसके अन्तर में स्थित आत्मा पर घटायें। अर्थात्, बाहर जब हम अपना घर देखते हैं तो हमारी वृत्ति तुरन्त अन्दर को जाये अर्थात् हमारे मस्तिष्क में फौरन यह विचार उठे कि मुझ आत्मा का घर तो

परमधाम है। बाहर ऑखों द्वारा हम कार देखते हैं तो हमारे मन में यह संकल्प उत्पन्न हो कि यह शरीर भी एक कार की तरह है, मैं इसका ड्राइवर तो वास्तव में इससे अलग एक आत्मा ही हूँ। आप जानते हैं कि आज मनुष्य की वृत्ति बाहर भटकी हुई है। वह मुख में स्थित ऑख, कान द्वारा आदि बाहर के जगत में भटक जाती है, कभी भी लौट कर आत्मा की ओर अर्थात् मुख के अन्तर में नहीं आती। इस कारण मनुष्य अपने आपको (आत्मा को) और अपने बाप (परम-पिता परमात्मा) को भूल कर कभी किसी विषय में और कभी किसी वासना में पड़े होने से दु:खी है। अत: अब अन्तर्मुखी होने की ज़रूरत है।

चौथे, 'अन्तर्मुखता' का एक भावार्थ यह भी है कि मनुष्य को यह ध्यान रहे कि जितना कर्म आवश्यक हो उसे करके, वह अन्तर में जो आत्मा है उसमें टिक जाये। आज मनुष्य ने कर्म-जाल इतना फैला दिया है कि वह कभी भी कर्मेन्द्रियों को समेट कर आत्मा के स्वरूप में स्थित नहीं होता। परन्तु ज्ञानी अथवा योगाभ्यासी का यह कर्तव्य है कि कर्म करते समय तो – ''मैं आत्मा हूँ'' – इस स्मृति में स्थित रहे ही, परन्तु इस बात का भी ध्यान रखें कि व्यर्थ वाचा, व्यर्थ संकल्प-विकल्प, व्यर्थ की लम्बी-चौड़ी बातें सुनने में अपना समय नष्ट न करे बल्कि अपना जो कर्तव्य कार्य है, उसे ही करे। तत्पश्चात्, कछुए की तरह कर्मेन्द्रियों को समेट ले और देह से न्यारा होकर आत्मा के मनन में टिक जाये।

अन्तर्मुखता को धारण करने का एक भावार्थ यह भी है कि मनुष्य अपने अन्तरात्मा (मन-बुद्धि) की चैंकिग (ण्पम्व्हु, निरीक्षण) करता रहे कि उसमें कोई विकार या संकल्प-विकल्प तो नहीं घुस आया। बाह्यमुखी मनुष्य इस बात पर ध्यान नहीं देता; वह तो कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करने में ही तत्पर रहता है और बाह्य जगत को ही देखता रहता है। अन्तर में क्या हो रहा हे, मन में कोई विकार तो नहीं घुस आया, इस बात से वह विमुख रहता है।

इस प्राकर यदि आप अन्तर्मुखता धारण करेंगे तो आप में अनेक सद्गुण आयेंगे और दुर्गुण निकल जायेंगे। आप आत्मिक अथवा अतीन्द्रिय सुख के भागी भी बनेंगे।

जिज्ञासु – बहन जी, आपने आज अन्तर्मुखता का जो स्पष्टीकरण किया है, वह तो सचमुच बहुत ही गुह्य है। अब तक तो हम अन्तर्मुखता का कुछ और ही भाव लेते थे। मैं पहले जब कई साधुओं-सन्तों से मिला तो उन्होंने मुझे यह कहा कि – ''दोनों हाथों को मुँह पर ऐसे रखो कि दोनों अंगूठे दोनों कानों को बन्द करें और बाकी चार-चार अंगुलियाँ आंखों को ढक दें और ऐसे कर लेने के बाद ध्यान करो, आपको अन्दर सूक्ष्म घण्टा-ध्वनि सुनने में आयेगी, अनहद नाद सुनाई देगा और प्रकाश भी दिखेगा। यही अन्तर्मुखी होना है।

ब्रह्माकुमारी – यह तो भक्तिमार्ग की अन्तर्मुखता है जोकि साधु-सन्तों, अर्थात् मनुष्यों ने आपको बताई

थी। परनतु यह है ज्ञान-मार्ग अथवा योग-मार्ग की अन्तर्मुखता जोकि परमपिता परमात्मा शिव ने बताई हे। साधुओं ने आपको जो अन्तर्मुखता बताई है, उसमें तो अधिक ही दैहिक क्रियायें हैं; जैसे कि हाथों को मुख पर एक विशेष ढंग से रखना, अन्दर में हो रहे नाद का सुनना – क्या यह कोई आध्यात्मिक पुरुषार्थ है? इससे सद्गुणों का क्या विकास होगा? इसकी गणना आप गुणों में कैसे करोगे? ऑखों को बन्द करने से अथवा मसलने से थोड़ी लाइट तो किसी को भी दिखाई देगी, परन्तु इससे क्या कोई देवता बन जाएगा? फिर, इस प्रकार ऑखें और कान कोई कब तक बन्द किए रहेगा?

जिज्ञासु – हाँ, बहन जी, यह तो स्थूल प्रकार का अभ्यास है और इसमें किसी दिव्य गुण की धारणा की बात नहीं है – यह तो अब मैं समझ गया हूँ। परन्तु, बहन जी, आजकल का वातावरण बहुत खराब है। संसार में बनाव-श्रृंगार और चमक-दमक इतनी है कि वह मनुष्य का सारा ध्यान अपनी ओर खींच लेती है। जहाँ जाओ, आवाज़-ही-आवाज़ और भीड़-भाड़ है। कहीं भी शान्ति और एकान्त का वातावरण ही नहीं है। अत: आप बताइये कि ऐसी परिस्थिति में भी हम अन्तर्मुख अवस्था में कैसे रहें?

माया के चमत्कार की अति को देखकर अब अन्त का ध्यान करने से अन्तर्मुखता

ब्रह्माकुमारी – इसके लिए तो शिवबाबा ने बहुत ही अच्छी तरह समझाया है। देखिये, आप आज संसार में जो बहुत बनाव-श्रृंगार, सजधज या चमक-दमक देखते हैं, उसको देखकर आपको यह सोचना चाहिए कि यह माया का चमत्कार (इदर्ज्ंहे प्दै) है। जब किसी चीज़ की अति हो जाती है तो समझना चाहिए कि अब उसका अन्त पहुँचा है। अत: आपको यह विचार आना चाहिए कि यह सब माया का आखिरी भभका (हिंग्हु प्दै) है। आपने देखा होगा कि दीपक जब बुझने आता है तो वह फप-फप करते हुए अधिक प्रकाश देकर फिर बुझ जाता है। ठीक यही हालत अब इस संसार की हो चुकी है। आप आज जो सारा भभका या शो (एप्दै) देखते हैं, उसमें कुछ दिव्यता या उत्तम मर्यादा तो है नहीं, बल्कि उसके पीछे कोई-न-कोई विकार ही होता है। अत: यह तो माया का ही झूठा चमत्कार है। इसमें तो फँसना ही नहीं है क्योंकि यह तो अब खत्म होने वाला है और आत्मा को गिरावट की ओर ले जाने वाला है।

एक परमात्मा के अन्त में टिकने से 'एकान्त' और उससे अन्तर्मुखता

अत: इसकी अति को देखकर तो सृष्टि के अन्त का विचार आने से मनुष्य के मन में इसके प्रति वैराग आना चाहिए और उसे एक परमात्मा ही के पूर्ण परिचय में स्थित होने में सुविधा अनुभव करना चाहिए। यही तो वास्तविक 'एकान्त' है। आप कहते हैं कि आज एकान्त नहीं मिलता और कि यह आवाज़ों और बनाव-ठनाव की दुनिया है। हम कहते हैं कि एक परमात्मा के पूर्ण परिचय को जानने से और अब इस सृष्टि का अन्त निकट मानने से आप सहज ही 'एकान्त' में स्थित हो सकते हैं।

बाह्य जगत की असारता को देखते हुए अन्तर्मुखता का अभाव

फिर, शिवबाबा ने हमें स्वर्ग के सुखों का भी तो परिचय दिया है। स्वर्ग में जैसे महल, झरने, बग़ीचे, फल-फूल, पशु-पक्षी, अन्न-जल, दास-दासियाँ, जन-धन, मान-मर्यादा आदि होंगे, उनकी तुलना में तो आज की सृष्टि की सारी सामिग्री काग-विष्ठा के समान है! आज पदार्थों में वह सतोगुण, सार और सुन्दरता कहाँ है? आज शरीरों में वह आरोग्य, वह प्राकृतिक सौन्दर्य, वह शक्ति और क्षमता तो है ही नहीं। किसी भी पहले से विचार कीजिये, आज की सृष्टि के प्लास्टिक और परफ्यूम (ईंल्से, इतर), रंग और ढंग, हास्य और विलास सब तमोगुणी हैं और आने वाली स्वर्गिक सतयुगी सृष्टि, जिसमें हमें शिवबाबा ले जा रहे हैं, के खाने-मनाने की तुलना में बिना रस वाले गन्ने के छिलके की तरह हैं। अत: इनको देखकर तो मन इनसे उठकर अन्तर्मुख हो जाना चाहिए।

जिज्ञासु – हाँ, बात तो ठीक है। परन्तु कई बार हमारे मन में यह सात्विक विचार पता नहीं क्यों नहीं उठते? भला ऐसी कौन-सी युक्तियाँ हैं कि जिसे अपनाने से हमारा दृष्टिकोण ऐसा बना रहे?

अन्तर्मुख स्थिति के लिए अपने आपको भृकुटि में एक चेतन तारा समझो

ब्रह्माकुमारी – सबसे अनमोल युक्ति तो यह है कि चलते-फिरते, उठते-बैठते हर-एक कर्म करते हुए, स्वयं को भृकुटि में रहने वाली एक ज्योति-बिन्दु आत्मा अथवा एक चेतन स्टार समझो और अन्य शरीरधारियों को देखते हुए भी उनकी भृकुटि में जो ज्योति-बिन्दु आत्मा है, उसे देखो और आत्मा-आत्मा आपस में भाई-भाई है, एक ही निराकार शिव परमात्मा की सन्तान है – इस सम्बन्ध में टिक कर उनसे व्यवहार करो। जब इस दृष्टि, वृत्ति, स्मृति और स्थिति से व्यवहार करोगे तो निर्णय-शक्ति (व्लुसहू) भी ठीक काम करेगी तथा तब आप इस संसार में रहते हुए, बाहर देखते हुए और सुनते हुए भी आत्मा के भाव में अर्थात् संसार से न्यारे होकर रहोगे और बाह्यमुखता का भाव नहीं आयेगा। ''बस, मैं तो हूँ ही एक ज्योति-बिन्दु'' – इससे सारा बखेड़ा सिमट जाता है, सारा पसारा खत्म हो जाता है और मनुष्य एक के अन्त (एकान्त) में टिक जाता है।

जिज्ञासु – परन्तु दफ्तर में, दुकान में, घर में, बाज़ार में काम करते हुए क्या बिन्दु रूप की याद टिक सकती है?

ज्ञान-नेत्र खुला रखने से अन्तर्मुखता सम्भव

ब्रह्माकुमारी – यदि मनुष्य ज्ञान का नेत्र खुला रखे तब तो अन्तर्मुखता सम्भव है परन्तु यदि वह दूसरे दो नेत्र तो खुले रखे और ज्ञान-नेत्र बन्द कर दे तब यह सम्भव नहीं है।

जिज्ञासु – ज्ञान का नेत्र खुला रहने से क्या अभिप्राय है?

ब्रह्माकुमारी – आप बाज़ार में, दुकान में, दफ्तर में, घर में जहाँ भी कार्य करते हैं, ऑखें खोल कर ही तो करते हैं ना?

जिज्ञासु – जी हाँ, उसके बिना काम ही कैसे हो सकता है?

ज्ञान-नेत्र को खुला रखने का भावार्थ

ब्रह्माकुमारी – इन चर्म-चक्षुओं अथवा स्थूल ऑखें के खुले होने पर आप इस देह के जगत को अर्थात् स्थूल व्यक्तियों और पदार्थों को देख सकते हैं। अब यदि आप इनके साथ ज्ञान का नेत्र भी खुला रखें तो आत्मा, परमात्मा, परलोक, धर्म, मुक्ति, जीवन्मुक्ति आदि भी आपसे ओझल नहीं होंगे। 'ज्ञान के नेत्र' से मेरा अभिप्राय यह है कि आपको यह तो मालूम हुआ है कि हरेक देह में आत्मा है और कि अब यह समय कलियुग के अन्तिम चरण के अन्त में से गुज़र रहा है अथवा अब पुरुषोत्तम संगमयुग चल रहा है और इसके बाद शीघ्र ही सतयुग आने वाला है जिसके लिए हमें अभी पुरुषार्थ करना है अर्थात् ''पवित्र बनना है और योगी बनना है।'' यह ज्ञान प्रयोग में आता रहे तो मानो कि ज्ञान का नेत्र खुला है। जैसे कई लोग धन को तिजोरी में बन्द करके रख छोड़ते हैं और काम में नहीं लाते तथा सुख नहीं भोगते, वैसे ही कई लोग इस ज्ञान को भी बुद्धि रूपी तिजोरी में बन्द करके रख छोड़ते हैं और इसका उपयोग अथवा प्रयोग नहीं करते – यह है ज्ञान के नेत्र को बन्द करना।

तो मैं यह कह रही थी कि ज्ञान-नेत्र खुला रहने से अवस्था अन्तर्मुखी रहेगी। उदाहरण के तौर पर, आप घर वापस लौट रहे हैं और कुछ फासला चलने के बाद आपका घर आपके सामने आ गया तो आपके दोनों स्थूल नेत्र, जोकि खुले हुए हैं, स्थूल घर को तो देख लेंगे परन्तु यदि ज्ञान का नेत्र खुला हो तो आपको यह याद आयेगा कि आत्मा का घर तो परमधाम है, मुझे अब वहाँ जाने के लिए ईश्वरीय याद रूपी यात्रा पर रहना है। आपके सामने माता और पिता आयें तो ज्ञान के नेत्र खुले होने पर आप तुरन्त देखेंगे कि ये दोनों आत्माएं हैं जोकि इस जन्म में दैहिक नाते से मेरे माता और पिता हैं परन्तु आत्मिक नाते से तो मेरे माता-पिता एक परमात्मा ही हैं जिनसे कि मुझे स्वर्गिक राज्य-भाग्य का वर्सा (ध्हर्पेंर्पूहम) मिलता है। आपने एक मार्ग देखा तो आपको याद आया कि मैं आत्मा ज्ञान-मार्ग अथवा योग-मार्ग का राही हूँ। आपने कोई नाव देखी तो आपको विचार आयेगा कि जीवन भी एक नाव है, इसका खेवनहार एक परमात्मा ही है। इस प्रकार, ज्ञान का नेत्र खुला होने से आप देख सकेंगे कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है, ईश्वर कौन है और माया क्या है, अच्छाई किसमें है और बुराई किसमें है? यदि ज्ञान के नेत्र बन्द हो जाएँ तो किसी समय दुर्घटना (ैम्म्ग्हू) होने की अर्थात् पाप एवं दु:ख होने की सम्भावना है।

जिज्ञासु – बहन जी, यह तो आपने अच्छी और दिलचस्प युक्ति बताई है। इसका मैं अभ्यास करूँगा। बाहर की चीज़ों को देखते हुए भी मन को अन्दर की आत्मा की ओर खींच कर लाने का यह तो अच्छा तरीका है। और, कौन-कौन सी ऐसी युक्तियाँ हैं? मेरी बुद्धि में जितनी अधिक धारणा रहेगी, उतना अच्छा है, मैं किसी समय किसी एक प्वाइन्ट (इ्दग्हू, ज्ञान-बिन्दु) को और किसी समय किसी दूसरे प्वाइन्ट को प्रयोग में लाऊंगा।

अन्तर्मुखता में स्थित होने के लिए मरजीवा जन्म की याद

ब्रह्माकुमारी – आप अपने मरजीवा जन्म को सदा याद रखो। अर्थात्, अब ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करके आपने जो आध्यात्मिक जन्म लिया है और आप अब शिवबाबा के धर्म के बच्चे बने हैं – यह न भूलो। इससे आपका देह-भान मिट जायेगा और अन्दर जो आत्मा है, उसकी याद आयेगी। उदाहरण के तौर पर, यदि आपसे कोई पूछता है कि आपकी आयु क्या है, तो आप उसे यह बताइये कि – ''भाई, मेरे शरीर की आयु तो चालीस वर्ष है (जितनी हो उतनी बताएं) परन्तु मैं स्वयं अभी चार वर्ष का हूँ (या जितना समय ज्ञान लिये हुआ हो)। कभी भी विचार आए कि 'मैं तो जवान हूँ', तो सोचना चाहिए कि 'नहीं, मैं तो अभी बच्चा हूँ' या अब चूँकि सृष्टि का अन्तिम समय है, इसलिए अब तो मेरी ''वानप्रस्थ अवस्था'' है। कोई पूछे कि आपके पिताजी जी का क्या शुभ नाम है, आपकी बहनें कितनी हैं, भाई कितने हैं, तो बताना चाहिए – ''मेरे लौकिक पिता का तो अमुक नाम है परन्तु आत्मा के परमपिता परमात्मा का नाम 'शिव' है और धर्म के पिता का नाम 'प्रजापिता ब्रह्मा'है। आत्मिक नाते से सभी हमारे भाई हैं, पर शारीरिक नाते से सभी भाई-बहन हैं।'' इस प्रकार, मरजीवा जन्म की याद रहने से भी देह का भान या हद की बुद्धि (आसक्ति-युक्त स्मृति) नहीं रहेगी बल्कि आत्मा की स्मृति रहेगी। स्वयं को 'ब्रह्मा-मुख-वंशावली' अथवा 'शिव-वंशी' समझने से अन्तर्मुखता का गुण आ जायेगा। क्योंकि हमारा यह परिचय आत्मिक है, ना कि शारीरिक।

यह शरीर प्रभु की एक अमानत है

इसी प्रकार, दूसरी युक्ति यह है कि अपने शरीर की रक्षा तथा पालन करते हुए भी इसमें से आसक्ति निकाल कर अन्तर्मुख होने के लिए यह सोचना चाहिए कि यह शरीर तो काम विकार से पैदा हुआ है, इसलिए गन्दा है। यह पुराना है, इसे कई चत्तियाँ लगी हुई हैं। यह तो आसुरी और तमोगुणी प्रकृति का है। यह तो खाल है, एक दिन जला कर राख कर दी जाएगी। इसको तो जितना अच्छे काम में लगा कर अपने तथा दूसरे के कल्याण में लगा दिया जाये, उतना अच्छा, वर्ना तो यह किस काम आएगी ? यह देह जैसी भी है, अब तो मैं प्रभु को दे चुका हूँ, अब तो यह उसकी ही अमानत मेरे पास है। अत: इसकी किसी भी इन्द्रिय द्वारा मुझे प्रभु-आज्ञा के विपरीत कोई कर्म नहीं करना है अथवा मैं तो हूँ ही विदेशी। मैं परमधाम वासी, इस बेगाने, अर्थात् माया के देश में थोड़े समय के लिए हूँ क्योंकि शिव-बाबा के साथ मिल कर मुझे भी यहाँ देवी-देवता धर्म की पुन: स्थापना का शुभ कर्म करना है, फिर तो चले ही जाना है। इस प्रकार के मनन-चिन्तन से ही अवस्था अन्तर्मुखी होगी।

जिज्ञासु – बहन जी, जब हम ऐसी दिव्य बातें सुन रहे होते हैं, तब तो हमारी अवस्था बहुत ही अव्यक्त और अच्छी बन जाती है परन्तु कई बार लोग ऐसी कई बातें कर देते हं कि हम भड़क जाते हैं। आज-कल के बच्चे भी ऐसे हैं कि बड़ा तंग कर देते हैं और मनुष्य को बाह्यमुखता में ला देते हैं। आजकल

का ज़माना भी बड़ा अजीब है! दफ्तरों में या दुकानों पर लोग ऐसी-ऐसी बातें कर रहे होते हैं कि जो बाह्यमुखता में ले आती हैं। वैसे भी घर-गृहस्थ में रहते हुए लोगों के साथ जब बातचीत और कार्य-व्यवहार करना होता है तो थोड़ा नीचे उतरना ही पड़ता है, वर्ना वह लोग यह समझते हैं कि शायद हम उनसे मिल-जुल कर नहीं चलना चाहते अथवा उनका बहिष्कार करते हैं। इसी तरह कभी इस दैवी परिवार में भी यदि हमारे विचार किसी से न मिलें अथवा कोई हमसे ठीक तरह बातचीत या व्यवहार न करे तो भी मन थोड़ा उत्तेजित-सा हो जाता है और अन्तर्मुखता का गुण हम खो बैठते हैं। ऐसी-ऐसी परिस्थितियों में हमें क्या करना चाहिए?

गम्भीरता की धारणा

ब्रह्माकुमारी – समझने की बात यह है कि यदि हम स्वयं फालतू गपशप में या इसकी-उसकी सांसारिक बातों में दिलचस्पी दिखाते हैं तो लोग हमें वह बातें अधिक सुनाते हैं। अत: पहले तो हमें ही जीवन में इस प्रकार चलना चाहिए कि लोग यह जान सकें कि जिन बातों से हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है अथवा जिन बातों को सुनने से न हमें लाभ है, न ही सुनाने वाले को, उन व्यर्थ बातों में अथवा देह-अभिमान की या अश्लील बातों में हम दिलचस्पी नहीं लेते। हमें स्वयं ही इस प्रकार की व्यर्थ चर्चा या गपशप नहीं करना चाहिए बल्कि गम्भीरता का गुण धारण करना चाहिए। यदि हम ऐसे वातावरण में रहते भी हैं जहाँ के वायब्रेशन (ंल्ैग्दहे) अर्थात् विचार-तरंगें या बातचीत सात्विक नहीं हैं तो हमें लोगों की बातों को ज्ञान द्वारा मोड़ लेना चाहिए। उदाहरण के तौर पर कोई हमें कहता है कि – ''चलो, आज फलाँ फिल्म देखने चलेंगे, उसमें अमुक-अमुक ऐक्टर या ऐक्ट्रेस का पार्ट है'', तो हमें कहना चाहिए कि हम तो नान-स्टाप (ञ्दह्ेदज) अर्थात्, सदा चलते रहने वाली सृष्टि-नाटक की फिल्म को देखते ही रहते हैं जिसमें कि ५०० करोड़ से भी अधिक आत्माओं का पार्ट है और जिसके मुख्य ऐक्टर्स (श्रीकृष्ण, श्रीराम, इब्राहिम, बुद्ध, क्राईस्ट आदि)बहुत नामीग्रामी हैं और जिसके हीरो-हीरोइन तथा डायरेक्ट बहुत ही उच्च और प्रसिद्ध हैं। उनको कहना चाहिए कि इस वृहद नाटक की पूरी कहानी, जोकि जीत-हार अथवा सुख-दु:ख की कहानी है, से मनुष्य को अपार प्राप्ति होती है और वह त्रिकाल-दर्शी भी बन जाता है।

इसी प्रकार, कोई कहता है कि ''आज शाम को होटल में चल कर मौज मनायेंगे'', तो उसको कहना चाहिए कि आज आप हमारे यहाँ आना, ऐसा खाना खिलायेंगे जो आपने कभी नहीं खाया होगा। जब वह आकर भोजन करने लगे तो उसे बताना चाहिए कि यह पवित्र व्यक्ति के हाथों का बना हुआ है और भगवान को अर्पण अथवा भोग लगा कर प्रसाद के रूप में लिया जा रहा है। इसकी महिमा इतनी है कि होटल वाले भी ''वैष्णव भोजनालय'', 'ब्रह्मा भोजन' आदि लिखकर बोर्ड लगाते हैं और इस प्रसाद के एक-एक कण के लिए भक्त सैंकड़ों रुपया देने को तैयार होते हैं, बल्कि इसके लिए तो देवता भी तर-

सते हैं।

इस तरह के व्यवहार से वे यह नहीं समझेंगे कि यह व्यक्ति हमसे अब घुलना-मिलना नहीं चाहता बल्कि वे समझेंगे कि इसमें स्नेह और स्नेह-मिलाप की भावना तो अभी भी है परन्तु अब इसने कुछ नियमों को अपना लिया है और गम्भीर बन गया है। यदि आपका मित्र अथवा सम्बन्धी कोई धर्म-प्रेमी होगा तो अच्छा मानेगा और आपसे अधिक स्नेह करने लगेगा। यदि कोई बिल्कुल ही पत्थर-बुद्धि होगा तो आपसे टल जायेगा; इसमें आपकी हानि क्या है? आपने उसका बिगाड़ा क्या है? आप चिन्ता किस बात की करते हैं?

गम्भीरता से चिह्न

यदि व्यापार में आपके भागीदार आपसे कोई झगड़ा करते हैं अथवा आपको उनके व्यवहार में कुछ कटुता, उग्रता या खराबी देखने में आती है या आपके नौकरों में कुछ त्रुटि है, तो भी आप गम्भीरता को धारण कीजिये। किसी में कोई कमी देखते ही उसे टोकना, डाँटना, जतलाना, उससे नाराजगी प्रगट करना, उसकी बातों को नोट करके पिछली बातों को भी याद दिलाना – यह गम्भीरता का गुण नहीं है। गम्भीर व्यक्ति तुरन्त ही सुझाव, संशोधन, प्रस्तावना या ताड़ना नहीं दिया करता बल्कि जब दूसरे व्यक्ति उससे कोई सुझाव अथवा संशोधन माँगते हैं अथवा जब अनुकूल अवसर तथा वातावरण होता है, तब ही वह दूसरे को आत्मिक-दृष्टि से देखते हुए, नम्रता से (न कि अधिकार भाव से), मधुरता से (न कि उग्रता से अथवा अपनी स्थिति को हिलाकर) दूसरे को संशोधन (ण्दीमूदह) अथवा सुझाव एक गुण रूपी मोती की तरह दे दिया करता है। गम्भीर व्यक्ति पर यदि कोई दोष भी लगाये अथवा उससे क्रोध से बोले तो भी वह जल्दी से उत्तर देने की उत्सुकता प्रगट नहीं करता। गम्भीर व्यक्ति में ओछा-पन अथवा हल्कापन नहीं होता। क्योंकि उसे याद रहता है कि मैं तो ईश्वरीय कुल अथवा सर्वोत्तम ब्राह्मण कुल का हूँ, मैं तो देवता बनने का उम्मीदवार हूँ। इसलिए मेरे व्यवहार में रायल्टी (शिष्टता) और मैनर्स (ैत्हहै) का अर्थात् श्रेष्ठता तथा उच्च गुणों का समावेश होना चाहिए। गम्भीर व्यक्ति के ध्यान पर यदि दूसरे किसी व्यक्ति की ग़लतियाँ लाई भी गई हों तो भी उसके चेहरे पर गुस्से या नारा-ज़गी के चिह्न नहीं आते और वह ग़लती करने वाले मनुष्य से चिढ़ कर व्यवहार नहीं करता; वह सबके सामने बार-बार उसे टोकता नहीं, बल्कि वह उचित समय आने तक उस बात को ऐसे हज़म किये रहता है, जैसे कि कोई बात है ही नहीं और समय आने पर भी प्यार से, उसके प्रति सहानुभूति रखते हुए, उसे मित्र मान कर, उसकी उन्नति को सामने रखते हुए, उस व्यक्ति को उसकी भूल बता देता है और फिर उसके बाद सागर की तरह से गम्भीर हो जाता है।

नन्हीं-सी जान और गज-भर की जबान

आज मनुष्य के शरीर में कुछ दम तो है नहीं। परन्तु, वह बातें बड़ी-बड़ी करता है। कभी उसे कोई रोग

दबोच लेता है, कभी काल। मनुष्य में आत्मिक-शक्ति भी नहीं है। उसे अहंकार इतना है कि बात मत पूछो। जितनी उसकी हैसियत अथवा सामर्थ्य नहीं है, उससे अधिक वह बातें करता है। सिर पर पहले ही विकर्मों का बोझा चढ़ा हुआ है, फिर भी सारा दिन किसी की निन्दा, किसी की ग्लानि, किसी से क्रोध, किसी से विरोध, किसी के साथ अभिमान तो वह ऐसे करता है जैसे उसकी गज़-भर की (नहीं, नहीं मीटर-भर की) ज़बान हो।

जस केले के पात-पात में पात।

तस ज्ञानी की बात-बात में बात।

गम्भीर व्यक्ति बात करने में जल्दी नहीं करता, उत्सुकता (एक्साइटमेंट) नहीं दिखाता तथा चिन्ता (वरी) भी नहीं दिखाता बल्कि पहले अपने मन में बात के सभी पहलुओं को तौलकर पीछे कहता है। इससे उसकी बात को सभी लोग अधिक मूल्य देते हैं। अन्य लोग तो बिना कहे ही अपनी बात कर डालते हैं। परन्तु गम्भीर व्यक्ति को सभी कहते हैं कि – 'अब आप अपना विचार बताइये।' अत: गम्भीर व्यक्ति का दूसरों के मत से टकराव नहीं होता और नाराज़गी तथा अनबन होने की भी कम नौबत आती है। इस प्रकार, गम्भीरता एक ऐसा गुण है कि जिससे मनुष्य अन्तर्मुखता में स्थित हो सकता है।

बच्चों के साथ भी यदि आप ज्यादा हल्केपन से बात करेंगे अथवा कदम-कदम पर उन्हें टोकेंगे या धमकायेंगे तो वे अधिक उद्दण्ड हो जायेंगे परन्तु यदि आप उनसे गम्भीरतापूवक व्यवहार करेंगे तो वे आपका अधिक सम्मान करेंगे।

गम्भीर व्यक्ति की हरेक बात में कई रहस्य होते हैं। आपने देखा होगा कि केले के वृक्ष के तने में पत्ते के नीचे पत्ते होते हैं और उनके नीचे फिर पत्ते होते हैं। इसी प्रकार, केले के फूल में भी पत्ते के बीच में पत्ते होते हैं। ज्ञानी मनुष्य भी ऐसे ही गम्भीर होता है। उसकी हरेक बात में कई रहस्य होते हैं क्योंकि वह विचार करके बात करता है।

केला इसीलिए ही हरेक देवता की पूजा में प्रयोग किया जाता है और उसकी शाखायें तथा पत्ते आदि भी शुभ अवसरों पर, दर-दरवाज़ों पर लगाए जाते हैं। गम्भीर बनना तो एक शुभ लक्षण है; यह दिव्यता की एक निशानी है।

जिज्ञासु – सचमुच, गम्भीर व्यक्ति की बात का मूल्य भी होता है और उसकी अवस्था भी ठीक रहती है। परन्तु, बहन जी, इस प्रकार अन्तर्मुख और गम्भीर व्यक्ति को लोग क्या रूखा व्यक्ति नहीं मानते?

ब्रह्माकुमारी – गम्भीरता तथा अन्तर्मुखता का यह थोड़े ही अर्थ है कि मनुष्य शुष्क बन जाये अथवा विनोद की कोई बात ही न करे? जिस मनुष्य के चेहरे पर मुस्कान न हो, जो किसी को रमणीक बातों से हर्षाये नहीं, उसे तो हम 'मनहूस', 'सूबट' अथवा 'मोदक' कहते हैं। 'गम्भीर-चित्त' का अर्थ कोई 'मौनी साधु' नहीं बल्कि जो व्यक्ति सभी से ज्ञान-युक्त और दिव्य मर्यादा के अनुसार मिलता-जुलता,

बात करता, विनोद की भी बात कहता और 'रायल्टी' से अर्थात् मिलता-जुलता, बात करता, विनोद की भी बात कहता और 'रायल्टी' से अर्थात् राज्य-कुल के व्यक्तियों जैसे शिष्टाचार से व्यवहार करता है, वही गम्भीर है। जो मनुष्य गम्भीर नहीं होता, वह एक ही बात दूसरे को सुनाता, अपने घर की कोई न कहने योग्य बात भी दूसरों को बताता, दूसरों की बात सुनने से पहले ही अनुमान लगाकर पहले से ही उत्तर देने या बोलने लग जाता है और इस कारण कई झगड़े पैदा कर देता है। अत: वह अन्तर्मुख अवस्था में नहीं रह सकता। अन्तर्मुख और गम्भीर व्यक्ति को यदि कोई मन का हाल सुनाता है तो वह दूसरे के कान पर नहीं पड़ने देता है। परन्तु जो गम्भीर नहीं है, वह एक की बात दूसरे को सुना कर कहता है कि – 'यह बात मैं केवल आपको ही सुना रहा हूँ, आपको मेरी कसम (शपथ) है, आप किसी को मत बताना। इससे कई लोगों के बीच मन-मुटाव होता है, उनकी स्थिति में गिरावट आती है। अत: गम्भीरता को धारण करने का भाव यही है कि हरेक बात के लाभ-हानि को सोचकर, समझ कर, निर्णय करके पीछे ही बोलना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ नहीं कि बात करनी ही नहीं चाहिए। इसी प्रकार, इसका यह भी अर्थ नहीं कि हँसना और बहलना नहीं चाहिए बल्कि यह भाव है कि हँसना-बह-लना भी बाह्यमुखता तथा स्थूलता में लाने वाला, देह-अभिमान और आत्म-विस्मृति में लाने वाला नहीं होना चाहिए। गम्भीरता के साथ सहनशीलता का गुण भी होना चाहिए।

जिज्ञासु – जी हाँ, बहन जी, सहनशीलता का गुण तो बहुत ही अच्छा है।

दूसरा दिन –

सहनशीलता और धैर्य

ब्रह्माकुमारी – दिव्य गुणों में एक महान गुण है – सहलशीलता। किसी भी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहन तो करना ही पड़ता है। आप जानते हैं कि सभी धर्म-स्थापकों को अपने-अपने धर्म की स्थापना के लिए कितना सहन करना पड़ा! अब आप भ्ज्ञी तो पूर्ण पवित्रता और पूर्ण शान्ति रूपी 'स्व-धर्म' की अथवा सर्वोच्च 'देवी-देवता धर्म' की स्थापना का लक्ष्य लेकर पुरुषार्थ कर रहे हैं। अत: इस पुरुषार्थ में कुछ-न-कुछ तो सहन करना पड़ेगा। उन धर्म-स्थापकों ने जो सहन किया, उसकी तुलना में तो आपको बहुत कम ही सहन करना पड़ता है। फथ्र भी इससे प्राप्ति बहुत उच्च होती हे।

जिज्ञासु – बहन जी, सहनशीलता की ही तो मुझमें कमी है। वैसे मैं मानता हूँ कि यह गुणबहुत बड़ा है।

ब्रह्माकुमारी – केवल मानने से क्या होगा? गुण तो धारण करने अथवा प्राप्त करने की चीज़ है। आप शान्ति और सुख को केवल मानते ही हैं या प्राप्त करने की कोशिश भी कर रहे हैं? देखो, आप यह भी जानते हैं कि जिन्होंने देश की स्वतंत्रता का बीड़ा उठाया था उन्हें भी कितने कष्ट सहन करने पड़े, तब जाकर उन्हें इस अधूरे-अधूरे स्वराज्य की प्राप्ति हुई है। आज पाँच वर्षों जितने अल्पकाल के लिए राज्य-पद प्राप्त करने अर्थात् संसद-सदस्य बनने के लिए भी मनुष्य विरोध और कड़ी आलोचना सहन करते हैं। परन्तु, आपने तो आधे कल्प के लिए अटल, अखण्ड, निर्विघ्न, अति सुखकारी स्वर्गिक स्वराज्य पद अथवा देव-पद की प्राप्ति का दाव लगाया है। आपने तो सदा के लिए दु:ख और अशान्ति से स्वतंत्रता प्राप्त करने का बीड़ा उठाया है। तब आपको भी कुछ तो सामना और सहन करना पड़ेगा ना।

फिर, यह भी तो आप देखते हैं कि भक्ति मार्ग के लोग अल्पकाल के लिए शान्ति या लौकिक सुख की कामना लेकर तीर्थ यात्रा करते या मेलों में जाते हैं। तो इसके लिए वे भी धक्का-मुक्का और खान-पान, रहन-सहन आदि की कठिनाइयाँ सहन करते हैं। तब आपकी यात्रा तो सभी यात्राओं से ऊंची है। आपका लक्ष्य तो परमधाम और वैकुण्ठ पहुँचने का है। आप उसी के लिए ही तो ईश्वरीय याद रूपी यात्रा कर रहे हैं। आप भी तो आत्मा का परमात्मा से सर्वोच्च मेला मनाना चाहते हैं? तब क्या आपको 'धर्म का धक्का' सहन नहीं करना पड़ेगा? क्या आप चाहते हैं कि इतनी उच्च प्राप्ति कुछ भी तकलीफ सहन किए बिना हो जाये?

और तो क्या, एक बड़ा ऑपरेशन (ईरदे दर्जूग्दह) कराने वाले को भी कई दिनों तक दर्द सहन करना पड़ता है और लेटने तथा खाने-पीने आदि की तकलीफ बर्दाश्त करनी पड़ती है। परन्तु हम आध्या-त्मिक मार्ग के पुरुषार्थियों का तो मानो बहुत बड़ा आध्यात्मिक आपरेशन है क्योंकि जन्म-जन्मान्तर से

हमें काम, क्रोधादि विकारों ने जो दु:खी कर रखा है, अब उस पुरानी बीमारी का आपरेशन होना है। अब जबकि परमपिता परमात्मा-जैसा सर्जन (एलुदह) हमें मिला है, तो यह अनमोल अवसर है कि थोड़ा-सा सहन करके सदा के लिए इन विकारों के बार से छूट जायें। हमें अब थोड़ा-सा सहन करने से जितनी प्राप्ति होगी, उसके हिसाब से तो हमारा हय सहन करना मानो कुछ भी नहीं है। सहन करने से ही तो हमारी शक्ति भी बढ़ेगी और हमारा 'शील' अर्थात् हमारी पवित्रता भी। तभी तो सहन करने वाले को 'सहलशील' कहा जाता है१

जिज्ञासु – सहन करने से 'शील' अर्थात् पवित्रता कैसे बढ़ेगी ?

सहन करने से 'शील' कैसे बढ़ता है ?

ब्रह्माकुमारी – यदि कोई मनुष्य किसी द्वारा निन्दा को सहन नहीं करेगा तो उसके मन में निन्दा करने वाले के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, घृणा या रोष पैदा होगा। यदि मनुष्य किसी कष्टकारी परिस्थिति को सहन नहीं करेगातो उसमें क्रोध आदि उत्पन्न होगा। ये ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि 'अपवित्रता' अथवा विकारों में ही तो गिने जाते हैं। अत: स्पष्ट है कि सहन करने से ही पवित्रता अथवा शील बढ़ेगा और इससे आत्मा में शक्ति बढ़ेगी।

पवित्रता और शक्ति के अतिरिक्त सहन करने से मनुष्य की खुशी भी बढ़ती है। किसी की कड़वी बातें सहन कर लेने से प्राय: झगड़ा समाप्त हो जाता है अथवा हल्का हो जाता है और उलझन मिट जाती है। सहन न करने से क्रोध की आग और भी भड़कती है और मनुष्य स्वयं को और भी अधिक दु:खदाई और विकट परिस्थिति में पाता है। मनुष्य यदि बीमार हो और बीमारी को सहन कर ले तो दूसरों को भी परेशानी नहीं होती बल्कि वह भी सहन करने वाले से खुश होते हैं। सभी के मुख से उसके प्रति 'शाबाश', 'आफरीन', 'वाह-वाह', आदि शब्द निकलते हैं। यदि कोई व्यक्ति उससे अनुचित व्यवहार करता है, तो सभी की सहानुभूति उस सहन करने वाले व्यक्ति के साथ होती है। सहन करने वाले मनुष्य का सभी पर प्रभाव पड़ता है और स्वयं उसे बहुत खुशी होती है कि वह 'जोश', 'रंज' या 'हाय-हाय' आदि से बचा रहा और सबसे ठीक भी बना रहा।

जिज्ञासु – क्या आपके कहने का यह भाव है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, मनुष्य को सदा हरेक बात सहन कर लेनी चाहिए ? आपके विचार से सहनशीलता की क्या सीमा है, क्या परिभाषा है और सहनशील मनुष्य के क्या लक्षण या चिह्न हैं ?

सहनशील मनुष्य के लक्षण

ब्रह्माकुमारी – सहनशील मनुष्य के चिह्न अथवा लक्षण ये हैं कि कोई भी यदि उसकी निन्दा करेगा या उससे रूखा बोलेगा, यदि उसे रोग भी होगा तो भी उसका चेहरा खिला हुआ अर्थात् हर्षयुक्त होगा, उस पर मुरझाहट का चिह्न नहीं होगा। यदि कोई हानि, पराजय, शोक, कठिनाई या दो स्वभावों के टकराने

आदि की परिस्थिति आयेगी, तो भी उसके वचनों से निश्चिन्तता प्रकट होगी और उसके बोल से घबराहट, उदासी, चिन्ता, दु:ख या उलझन महसूस नहीं होगी। उसके नयनों से ईश्वरीय ज्ञान के नशे की झलक आयेगी और ऐसा नहीं लगेगा कि कुछ मन-मुटाव, नाराज़गी, मासूसता (झात्ग्हु), खिन्नता, सूनापन या उचाटपन है। उसकी चलन से ऐसा लगेगा कि कोई बड़ी बात नहीं हुई और कि वह मानो सामना करने के लिए तैयार है और उसके साहस तथा पुरुषार्थ में कोई कमी नहीं आयी।

'सहनशीलता का अर्थ'

अत: 'सहनशीलता' का अर्थ या उसकी परिभाषा यह है कि मनुष्य की अवस्था में दु:ख या अशान्ति पैदा करने वाली परिस्थितयाँ जब उसके सामने आयें तो वह उन परिस्थितयों में भी एकरस अवस्था में रहे। उसके मन में दु:ख की लहर रंचक भी पैदा न हो बल्कि वह सुरक्षित (ऍी) रहे। उसके पुरुषार्थ में, योगाभ्यास में, अन्य आत्माओं के प्रति भावना में कोई विशेष अन्तर अर्थात् कमी न आये।

जिज्ञासु – बहन जी, इस प्रकार इतना सहन करना कि चेहरे पर चिह्न भी न आयें, यह तो बहुत ही मुश्किल है! इतनी सहनशीलता हममें कैसे आ सकती है, बहन जी?

सहन करने के लिए शक्ति और युक्ति

ब्रह्माकुमारी – सहन करने के लिए शक्ति चाहिए। अब तो आत्मा निर्बल हो चुकी है, उसे शक्ति तो सर्वशक्तिवान परमात्मा से ही मिलेगी। इसलिए उस सर्वशक्तिवान परमात्मा से आत्मा का योग होना चाहिए। दूसरे, यह याद रखना चाहिए कि – ''मैं तो मरजीवा बन चुका हूँ'' अर्थात् जीते-जी इस दुनिया से मर चुका हूँ। क्या मरे हुए को कुछ महसूस होता है? मरे हुए की यदि कोई निन्दा भी करे तो क्या मृतक उसको सुनता है? अत: सदा यह ख्याल रखना चाहिए कि मैं इस कलियुगी, विकारी, काँटों वाली दुनिया से मर चुका हूँ और अब तो सूक्ष्म लोक में अथवा संगमयुग में जीता हूँ।

जिज्ञासु – बहन जी, कोई दस व्यक्तियों के सामने यदि हमारा अपमान करे, हमारा मज़ाक उड़ाये या हमारी झूठी निन्दा करे, हमारे सिर पर दोष मढ़े तो यह हमसे सहन नहीं हो सकता क्योंकि उस व्यक्ति के ऐसे व्यवहार से तो यह लगता है कि उसकी हमसे दुश्मनी है अथवा वह हमें दूसरों की नज़रों में गिराना चाहता है और हमें दो कौड़ी का मानता है। बहन जी, हर-एक मनुष्य में आखिर स्वमान तो होता ही है और होना भी चाहिए और उसकी रक्षा भी करनी चाहिए?

ब्रह्माकुमारी – यदि अज्ञानियों-जैसा व्यवहार 'ज्ञानवान्' व्यक्ति भी करने लगें, असुरों - जैसा व्यवहार ईश्वर मुख-वंशी भी करने लगें तो अन्तर क्या रहा? जिस व्यक्ति का जिससे पिछला कर्म-लेखा है, यदि वह स्वयं भी सहन करेगा तो और कौन करेगा? अब नहीं सहन करेंगे तो धर्मराज-पुरी में करना पड़ेगा। अब सहन करोगे तो भविष्य में भी उसका फल उच्च पद के रूप में मिलेगा; यदि अब सहन नहीं किया तो भविष्य में उच्च प्रालब्ध भी नहीं मिलेगी और उच्च 'देव पद' भी नहीं मिलेगा क्योंकि

सहनशीलता रूप उच्च दिव्य गुण को पूरी तरह धारण नहीं किया गया।

गाली को फूल और निन्दक को भक्त मानो

अत: जब कोई मनुष्य अनुचित व्यवहार करता है अथवा खराब बोलता अथवा निन्दा करता है तो ऐसा सोचो कि – ''यह निन्दा अथवा गाली फूल बनते जा रहे हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा इस व्यक्ति से हमारा हिसाब चुकता हो रहा है और मैं सहनशीलता रूपी अनमोल गुण धारण कर रहा हूँ और इस दिव्य गुण का फल यह होगा कि मैं फूल चढ़ाये जाने के योग्य देवता बनूँगा। यही व्यक्ति जो निन्दा अथवा गाली रूपी फूल चढ़ा रहा है, यह मानो मेरा भक्त है, यही द्वापर युग में फूल चढ़ायेगा।'' आज भी आप देखिये कि जो लोग विष्णु, शंकर आदि के भक्त हैं, एक ओर तो वे उन देवताओं की महिमा करते हैं, उन पर फूल चढ़ाते हैं और दूसरी ओर जिन पुराणों में इन देवताओं की जाने-अनजाने निन्दा की गयी है, वे घर में उन्हें बार-बार पढ़ते हैं। अत: जबकि निन्दकों में ज्ञान नहीं है, बल्कि वे माया के वशीभूत हैं, तो क्या उनको देखकर हम भी उनके समान आसुरी स्वभाव धारण कर लें? हमारा तो युद्ध ही माया अर्थात् विकारों से है, न कि मनुष्यों से। अत: हमारा कर्तव्य तो उस मनुष्य से माया को भगाना है, न कि उस मनुष्य से घृणा या द्वेष करके, घृणा या द्वेष रूपी माया के वशीभूत होना। हम कोई उस विकारी मनुष्य के अनुयायी (इदत्त्दौ) थोड़े ही हैं कि हम उसकि गलत व्यवहार को देखकर अपना व्यवहार भी वैसा बनायें? इस प्रकार, जिसके पास ज्ञान की ब्रेक होगी, वह तो उद्विग्न नहीं होगा बल्क सहनशीलता धारण करेगा। यदि सहन नहीं करेगा तो अपनी 'तकदीर को लकीर' लगायेगा।

जिज्ञासु – बहन जी, यह सब तो ठीक है परन्तु देखा यह गया है कि यदि उस समय उन व्यक्ति को करारा जवाब न दें तो लोग हमारे बारे में समझते हैं कि शायद हम दोषी हैं। आजकल का ज़माना ऐसा है कि हमारे चुप रहने का लोग उल्टा मतलब लेते हैं।

धैर्य और शीतलता से बात करने के लाभ

ब्रह्माकुमारी – चलिए आपकी बात ठीक सही। परन्तु मामला गरम हो या गड़बड़ फैली हुई हो तो उस समय आपकी बात सुनेगा कौन? उसको मूल्य कौन देगा? इसलिए हमारा कहना यह नहीं है कि आप अपनी बात दूसरों के सामने न रखो बल्कि हमारा कहना यह है कि आप स्वयं धैर्यवान्, शीतल, शान्त-चित् और सहनशील होकर उनको यह कहो कि – ''भाई, आप अपनी बात कह लीजिए, फिर मुझे भी थोड़ा अवसर देना ताकि मैं अपनी बात आपके सामने रख सकूँ और आप वातावरण को थोड़ा शान्त रखें तो अच्छा ही है। फिर भी हम भाई-भाई हैं, एक ही बाप (परमात्मा) के बेटे हैं, एक ही लक्ष्य को मानने वाले हैं, एक ही धाम से आये हैं, एक ही जगह जाना भी है। अत: हम क्यों न पवित्रता और शान्ति रूप स्वधर्म को अपनाकर एक-दूसरे के सहयोगी बनें?'' तो पहले इस प्रकार उस व्यक्ति को या लोगों को सुनने के लिए तैयार करके पीछे आप उन्हें अपनी बात बताइये। वर्ना यदि वे सुनने के

लिए भी तैयार नहीं हैं तो आप अपनी बात को यों ही कंकड़-पत्थर की तरह फेंकते क्यों हैं? आप स्वयं तो अपनी बात को मूल्य देकर ठीक समय पर उसे दो। यदि इस प्रकार लोगों को आप कहेंगे कि – ''मुझे भी कुछ निवेदन करना है'', तो वे महसूस करेंगे कि आपके पास भी कुछ तथ्य है और कि आपको बोलने का अवसर नहीं दिया गया वर्ना आपकी बात ज़ोरदार है और दूसरा व्यक्ति गलतफहमी में ही कुछ कह रहा है।

जिज्ञासु – बहन जी, एक-दो बार कोई अनुचित व्यवहार करता है तब तो मनुष्य उसको सहन कर लेता है, परन्तु यदि कोई रोज़ ही तंग करने की बात करे अथवा यदि किसी का ऐसा कड़ा स्वभाव हो कि हमारे पीछे ही पड़ जाये तो फिर सहन नहीं हो सकता।

धर्म की स्थापना में जो भी सहयोगी हो उसे बार-बार सहन करना पड़ता है

ब्रह्माकुमारी – यदि कोई व्यक्ति नौ बार सहन करता है और दसवीं बार सहन नहीं करता तो उसे 'सह-नशील' की उपाधि तो नहीं मिल सकती। सहनशील व्यक्ति में तो पूरी सहनशीलता चाहिए; तभी पूरी उपाधि मिलती है। आप वास्तव में यह भूल जाते हैं कि – ''मैं सर्वोत्तम धर्म की स्थापना के कार्य में निमित्त और सहयोगी हूँ, इसलिए मुझे अधर्म अथवा आसुरी गुण न अपनाकर, सहन ही करना है।'' आपने 'महात्मा बुद्ध' का उदाहरण तो सुना होगा।

कहते हैं कि एक व्यक्ति महात्मा बुद्ध के पास आया और लगा गाली देने। कोई आध-घण्टा भर वह गाली ही देता रहा। आखिर वह रुका। महात्मा बुद्ध, जोकि पहले-जैसी स्थिति में अचल (ल्हेूर्लें्) थे, बोले – ''भाई, अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं भी कुछ कहूँ?'' तब वह आदमी फिर बड़े रूखेपन से और निन्दा करते हुए कहने लगा कि – ''बोल, क्या बोलता है?'' महात्मा बुद्ध मुस्कराते हुए, धीरजे से, शीतल हृदय से, कल्याण की भावना से बोले – ''भाई, यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य को कोई वस्तु दे परन्तु, वह दूसरा व्यक्ति उसे स्वीकार न करे तो बताओ वह वस्तु किसके पास रहेगी?'' निन्दक कड़क कर बोला – ''क्या अजीब आदमी है! यह भी कोई पूछने की बात है? अरे, जबकि दूसरा व्यक्ति लेता ही नहीं तो स्पष्ट है कि वह देने वाले व्यक्ति के पास ही रहेगी।'' महात्मा बुद्ध बोले – ''तो आपने जो कुछ मुझे देने की कोशिश की, मैंने उनमें से एक भी बात नहीं ली, तब वह किसके पास रही?'' यह सुनकर वह व्यक्ति शर्मिन्दा हुआ और महात्मा बुद्ध का अनुयायी बन गया।

अब यदि महात्मा बुद्ध अपनी बात उस समय कहने की कोशिश करते जब वह व्यक्ति जोश में था और यदि वह अपनी बात सुनाने के लिए जिद्द करते तो व्यक्ति शायद अधिक गरम हो जाता और उनकी बात न सुनता।

आग भी सुलगाना और दाढ़ी भी बचाना

कहावत भी है कि आग भी सुलगाना और दाढ़ी भी बचाना – ये दोनों बातें एक-साथ होना कठिन है।

क्योंकि दाढ़ी वाला व्यक्ति यदि फूँक मार कर आग सुलगाये तो दाढ़ी झुलस जाना बिल्कुल सम्भव है। अब देखा जाये तो दाढ़ी मनुष्य की इज्ज़त का प्रतीक है; इसलिए कई बार मनुष्य दूसरे को कहते हैं – ''भाई, ज़रा मेरी दाढ़ी का तो ख्याल करो।'' 'आग सुलगाना' का अर्थ किसी को भड़काना, उत्तेजित करना या क्रोधान्वित करना भी है। तो कहावत का अर्थ यह हुआ कि यदि किसी का अनुचित व्यवहार देखकर आप उससे ऐसे शब्द बोलेंगे जिससे कि वह और उत्तेजित हो जाये – तो आपको अपनी इज्ज़त बचाना और भी ज्यादा मुश्किल हो जायेगा। अत: याद रहे कि यदि आप अपनी दाढ़ी को बचाना चाहते हैं तो या तो सहन करना होगा और या उसके दुर्व्यवहार रूपी आग से अपने मन को दूर रखना पड़ेगा वर्ना यदि प्रत्युत्तर में कोई उस व्यक्ति को कहेगा – ''तुम बड़े नालायक हो, बेवकूफ हो.....।'' तो समझ लीजिये इन फूंकों से उस प्रथम व्यक्ति के मन की आग सुलग जायेगी और इस नोंक-झोंक में फूँकने वाले की अपनी दाढ़ी की भी खैर नहीं।

तो कहने का भाव यह है कि आप अपनी बात कहें परन्तु सहनशील होकर, धैर्यवत् होकर और समय को देखकर।

जिज्ञासु – बहन जी, आपकी बात तो मैं मानता हूँ परन्तु बहन जी, वह परिस्थिति ऐसी होती है कि मनुष्य को दूसरे के स्वभाव का कड़वापन महसूस होता ही है। एक दिन की बात हो तो मनुष्य चला देता है परन्तु रोज़-रोज़ की बात हो तो फिर सहन नहीं हो सकती।

मुश्किलों को बार-बार सहन करोगे तो 'मलूक' बनोगे

ब्रह्माकुमारी – आपने सन्त नामदेव का किस्सा तो शायद सुना ही होगा। कहते हैं कि नामदेव जी प्रति-दिन प्रात: जब गंगा से स्नान करके लौटते थे तो उन पर एक पठान ऊपर से पान थूक देता था। वह बेचारे फिर लौट कर स्नान कर आते थे। काफी समय तक वह पठान अपने इस बुरे व्यवहार की पुन-रावृत्ति करता रहा। एक दिन तो ऐसा हुआ कि उसने छ: बार पान थूका और सन्त नामदेव जी छ: बार नहाकर आये परन्तु उन्होंने अपने मुख से कुछ बोला नहीं। आखिर उस पठान को सन्त नामदेव जी के क्षमाशील और सहनशील स्वभाव को देखकर आश्चर्य भी हुआ और प्रायश्चित भी और उसने वह बुरी बात छोड़ दी और वह सन्त नामदेव जी का प्रशंसक बन गया। यह तो है नामदेव का किस्सा। अब आप भी मनुष्य से देवता बनना चाहते हैं और देवों के देव परमपिता परमात्मा से दैवी स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं? तब आपको भी काँटा-कंकड़, कुछ तो सहन करने की हिम्मत रखनी चाहिए।

आप यहाँ इस ईश्वरीय विश्व विद्यालय में नियमित रूप में आने वाले बहनों-भाइयों की अथवा समर्पित (अर्ग्मू) बहनों या भाइयों में से एक-एक की जीवन-कहानी सुनेंगे तो आपको बहुत ही बल देने वाले उदाहरण मिलेंगे। एक-एक ने अपने जीवन में अनेकानेक प्रकार की परिस्थितियों को धैर्य से पार किया है और कठिनाइयों को भी सहन किया है। इसलिए ही आज वे इस उच्च अवस्था को प्राप्त हुए हैं और

उनका अनुभव परिपक्व हुआ है। यद्यपि उनके जीवन में अत्याचार, आपदा, आक्षेप, विघ्न अथवा कठिनाइयाँ बहुत ही उग्र रूप लेकर सामने आयीं परन्तु सहनशीलता के बल से, एक परमपिता परमात्मा के भरोसे अथवा मदद से उन्होंने उसे पार किया और इसलिए वे आज दूसरों को भी जीवन के उच्च लक्ष्य तक ले जाने के कुशल सिद्ध हो रहे हैं। परमपिता परमात्मा की याद से ये अत्याचार अथवा आपदायें सूली से काँटा हो जाते हैं और इनका परिणाम बहुत अनमोल फल को देने वाला होता है। अत: आपको भी सदा यह याद रखना चाहिए कि हम ''मुश्किकलों को सहन करेंगे तो मलूक (फरिश्ते) बनेंगे।''

जिज्ञासु – बहन जी, आपने जो बातें सुनाई हैं, उनसे हममें सहन करने का हौंसला बढ़ता है। मैंने यहाँ की कुछेक बहनों के आध्यात्मिक पुरुषार्थ के जीवन की कहानी सुनी है और भाइयों के भी अनुभव सुने हैं। उन्हें प्रभु-प्रेम के लिए लोगों से जो कड़ी आलोचना अथवा उपहास सहन करना पड़ा है, मित्र-सम्बन्धियों की ओर से शुरू में दी गयी यातनाएँ अथवा कठिनाइयाँ पार करनी पड़ी हैं, अपने ही देह-गेह द्वारा सामने आई परीक्षाएँ पारित करनी पड़ी हैं और अनेक प्रकार के कष्ट, रोग आदि सहन करने पड़े हैं, मैं देखता हूँ कि उससे वे पक्के हुए हैं और उनकी खुशी का खज़ाना बहुत बढ़ा है। परन्तु बहन जी, मैं आपको क्या बताऊं, इस समय मुझे भी अनेकानेक कठिन परिस्थितियों ने घेरा हुआ है!

उदाहरण के तौर पर मेरी एक लौकिक बहन हैं। वह भी इसी ईश्वरीय विद्यालय के एक सेवाकेन्द्र पर जाती हैं। उन्होंने भी ब्रह्मचर्य व्रत लिया है। परन्तु उन्होंने जब से यह अच्छा नियम अपनाया है, तब उसे उनका पति प्रतिदिन उन्हें निर्दयता से मारता या फटकारता है! हालाँकि अब मेरी बहन क्रोध भी नहीं करतीं, सेवा भी अधिक करती हैं, परन्तु वासना के वशीभूत हुआ-हुआ वह व्यक्ति उस पर आये दिन सितम ढाता है!! उसके तीन बच्चे हैं, उन्हें भी वह माता के विरुद्ध भड़काता है। मुझे जब उस बहन की प्रताड़ना का समाचार मिलता है तो मुझसे सहन नहीं होता; तब भला वह बहन उसे कैसे सहन करे ? आप ही बताइये कि वह क्या करे ?

ब्रह्माकुमारी – इस बात को सुनकर सहानुभूति तो सभी को होगी ही। परन्तु शिव बाबा कहते हैं कि इस परिस्थिति में से गुज़रने वाली माता को चाहिए कि स्वयं को 'शक्ति' समझे और वह योगीपन के नशे में रहे। यदि वह अपने लौकिक 'पति' को आत्मिक दृष्टि से देखेगी और, जब वह क्रोध करता है तब योग में स्थित होकर तथा अव्यक्त रूपा होकर निर्भय, शान्त एवं मधुर अवस्था में टिकी रहेगी, तो उसके 'पति'पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। परन्तु शिव परमात्मा की स्मृति भूल जाने के कारण और देह-अभिमान की अवस्था होने के कारण उसे ईश्वरीय सहायता कम मिलती है। इसके अतिरिक्त, उसका अपना कर्मों का खाता भी तो रहा हुआ है, जोकि चुकता होना है। उस बहन को चाहिए कि ज्ञान-बल, योग-बल और युक्ति-बल से इस परीक्षा को पार करे।

प्रभु के प्रेम में जितना सहन करोगे उतना ही प्यार, उतने ही मुकुट में रत्न मिलेंगे

फिर भी यदि थोड़ी-कुछ कठिनाई सहन करनी पड़े तो यह समझें कि जितनी बार मैं अत्याचार सहन कर रही हूँ मानो उतने रत्न मेरे भावी ताज में जुड़ते जा रहे हैं। उसे समझाना चाहिए कि – ''इन अत-चारों से ही अब इस सृष्टि के पाप का घड़ा भरकर डूबने वाला है जिसके बाद हमें तो परमधाम और वैकुण्ठधाम में, अथवा शान्ति की और सदा सुख की दुनिया में जाना है। मैं प्रभु के सदके (प्रेम से) पवित्रता रूप धर्म के लिए ही तो यह सहन कर रही हूँ, अत: यही मार प्रभु का अपार प्यार दिला-येगी।''

देखिये, कितनी अनमोल बातें मनुष्य ठोकरें खाकर अथवा नुकसान उठाकर सीखता है? अत: हमें समझना चाहिए कि यह हमारी प्रैक्टिकल पढ़ाई है, इसमें थोड़ा कष्ट सहन करके इस सहनशीलता रूपी अनमोल गुण को प्रैक्टिकल रीति से सीख रहे हैं। थोड़ा-सा सहन करने से हमें एक अनमोल दिव्य गुण रूपी रत्न (सहनशीलता) मिल रहा है!!

ऐसी परिस्थितियाँ 'नष्टोमोहा' बनने तथा उपरामचित होने में सहायक

इसके अतिरिक्त, आप देखते हैं कि संन्यासी तो घर-बार छोड़कर जंगल में चले जाते हैं। परन्तु हमें तो घर में रहते हुए मोह-ममता का संन्यास करना है। तो जो परिस्थिति आपने बताई है, यह हमारी मोह-ममता को मिटाने के लिए आती है और यदि ये न आयें तो मोह की सूक्ष्म रगें टूटेंगी ही नहीं। इन परि-स्थितियों के आने से संसार से मन उपराम होकर, सगे-सम्बन्धियों की वासनाओं को, स्वार्स्थ और अत्चाचार को देखकर मनुष्य का मन उनसे उठ जाता है और एक पतित-पावन, कल्याणकारी, प्रेम-स्वरूप परमपिता परमात्मा से जुट जाने से मदद मिलती है१

जिज्ञासु – यह तो ठीक समझ में आता है कि शक्ति रूपा बनकर, ज्ञान-बल और योग-बल को धारण करके, धीरज और शीतलता से इस परिस्थिति का सामना करने से ईश्वरीय सहायता मिलेगी। मुझे यह भी बात जँचती है कि यह प्रैक्टिकल पढ़ाई है तो प्रैक्टिकल रीति से इन दिव्य गुणों को धारण करने के लिए ऐसी परिस्थितियाँ भी आयेंगी। ये सभी अनमोल बातें मैं अपनी लौकिक बहन को समझाऊंगा। परन्तु, बहन जी, केवल एक ही समस्या तो नहीं है न? घर में इधर माता जी भी तो बीमार रहती हैं! उन्हें तो रोग के कारण तकलीफ है ही, परन्तु मुझे भी उनकी तकलीफ को देखकर कभी-कभी दु:ख की लहर आ जाती है। बहन जी, मेरी माता जी रोग को सहन नहीं कर सकती; उन्हें क्या युक्ति बतानी चाहिए?

बीमारियों का आखिरी सलाम

ब्रह्माकुमारी – उन्हें बताना चाहिए कि वह यह याद रखें कि अब बीमारियाँ आखिरी सलाम करने आई हैं। बस, इसके बाद तो हमें सतयुगी सुखधाम में सदा स्वस्थ (नैं-पॅतूष्ब) जीवन मिलेगा। बस, अब तो

हम सुखधाम में पहुँचे कि पहुँचे, केवल दो-चार कदम ही तो बाकी हैं। अत: यदि अब सहन न किया तो एक दिव्य गुण की कमी रहेगी और इसके कारण सदा स्वस्थ (नैं-पैंटूप्ब) दुनिया में नहीं जा सकोगी। तो अच्छाई इसी में है कि अन्तिम जन्म में भी अन्तिमल काल में यह जो अन्तिम बीमारी आई है, इसको हन कर लिया जाये और कुछ इलाज तथा योग-बल से इसे विदा दी जाये।

दो ही दिन बाकी हैं, फिर तो सदा सुखी दुनिया में जाना है

इस दृष्टिकोण से मनुष्य को चाहिए कि शिव बाबा (परमपिता परमात्मा शिव) से इस प्रकार बातें करें – ''अच्छा, शिव बाबा, अब मेरा हिसाब चुक्ता करा रहा हैं! बाबा, अब तो आप हमारे लिए सदा-सुख की दुनिया स्थापित कर रहे हैं। बाबा, बस, इसके बाद तो हम सदा-सुखी हो जायेंगे! शरीर को कभी रोग होंगे ही नहीं! बाबा, आप कितना उच्च जीवन हमें प्रदान कर रहे हैं!! सचमुच, विषय-विकारों में पड़कर हमने अपने लिए काँटे बो दिये थे जोकि अब हमें चुभ रहे हैं। अब तो हम कर्म-गति को आपसे समझ चुके हैं और आत्मा को निर्विकार बना रहे हैं....!''

ये परिस्थितियाँ ही शिव बाबा को लाई हैं

– प्रभु मिलन की खुशी –

''बाबा, सचमुच, यह बड़ा अनमोल जीवन है कि आप हमें आन मिले हैं! यदि ये रोग और दु:ख संसार में न होते तो आप इस संसार में अवतिरत न होते और तब कैसे हमारा आपसे मिलना होता? अत: इनकी बलिहारी है कि आपसे मिलन मनाने का और अपनी ८४ जन्मों की कहानी सुनने तथा सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त को जानने का अनमोल अवसर तो मिला! इन रोग-शोक, दु:ख-दरिद्रता को मिटाने के लिए ही तो आपका आना हुआ है और आपका यह आना ही तो हमारे सौभाग्य और सुख के दिन आने की निशानी है! इस रोग के कारण तो मुझे समय मिल गया है कि मैं आपकी याद में रह कर अविनाशी कमाई कर सकूँ वर्ना शायद मैं किन्हीं और झंझटों में पड़ी होती....!'' इस प्रकार बातें करने से उसका ध्यान बीमारी से हटेगा।

आत्मिक स्थिति से परिस्थिति को पार करना है

तो आप माता जी को बताइये कि वह आत्मा को शरीर से न्यारा (अ्रूम्प्) करने का अभ्या करें। मानो कि यह परिस्थिति उन्हें अशरीरी अवस्था में स्थित होने का अभ्यास करने के लिए ही मिली है। ऐसे रोग की अवस्था में भी यदि वह अशरीरी और साक्षी अवस्था में रहेंगी और स्वयं को शरीर से अलग समझ कर रोग पर योग द्वारा विजय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करेंगी तो इस बहुत बड़े विषय (एल्रांम्) में बहुत उच्च अंक (ग्रैंव) लेंगी। अत: इस परिस्थिति में भी स्थिति को नहीं खोना चाहिए बल्कि आत्म-स्थिति द्वारा परिस्थिति को पार करना चाहिए।

परिस्थिति को परीक्षा-पत्र समझो

शरीर के रोग को देखकर तो यह विचार आना चाहिए कि – ''अब यह संसार किसी काम नहीं है। अब तो इसमें रोग-शोक, कोई-न-कोई खटपट लगी हुई है। विकार से पैदा हुआ यह शरीर अब रहने के योग्य नहीं रहा।'' इस प्रकार, इस शरीर से घृणा आनी चाहिए और मन अब इस रोगी संसार से उपराम होना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाये तो यह रोग कई दिव्य गुणों को देने वाला सिद्ध हो सकता है। परन्तु यह प्राप्ति वही कर सकता है जो इसे रोग न समझ कर परीक्षा-पत्र समझे और स्वयं को रोगी के बजाय विद्यार्थी अथवा परीक्षार्थी समझे। यों तो रोगी को भी अंग्रेज़ी में 'पेशेन्ट' (ङ्गैगहू) कहा जाता है। 'पेशेन्ट' का अर्थ धैर्यवान् अथवा सहनशील होता है। अत: रोगी का तो धर्म ही सहन करना है क्योंकि मन की शक्ति (ेंग्त्त-इदौ) से तो रोग भी हल्का हो जाता है।

जिज्ञासु – बहन जी, सहनशील बनने के लिए बहुत ही अच्छी युक्तियँ आपने बताई हैं। मैं मानता हूँ कि रोने-चिल्लाने से तो कोई लाभ नहीं होता, खुशी-खुशी सहन करने से और योग-बल से बीमारी के बार को हल्का किया जा सकता है। परन्तु जब मनुष्य को कोई बीमारी होती है अथवा कोई हल्का दर्द होता है तो उसे देह अपनी ओर खींचती है और योग लगाने की कोशिश करने पर भी उसका बुद्धि-योग स्थिर नहीं होता।

शिव बाबा से लाइट और माइट लेकर सहन करना सहज है

ब्रह्माकुमारी – हाँ, यह देह-अभिमान की अन्तिम लड़ाई है। कर्म-भोग का ज़ोर है और वह योग-बल से लड़ रहा है। अत: उन्हें समझाना चाहिए कि अपने को योद्धा समझ कर वह उससे लड़ाई करें। ऐसा महसूस करें कि शिव बाबा ऊपर से लाइट और माइट (थ्रुर्ूह् श्रुू) दे रहे हैं अथवा वह मुझे प्यार से अपनी ओर बुला रहे हैं। या तो किसी से ज्ञान की कुछ बातें सुनें, ज्ञान सुनते-सुनते मन शिव बाबा की याद में स्थित होगा और मन शरीर से हट जाने के कारण उसे दर्द कम महसूस होगा और शरीर अपनी ओर ध्यान नहीं खींचेगा।

जिज्ञासु – बहन जी, सचमुच शिव बाबा ने हरेक परिस्थिति को पार करने के लिए अनेक सहज तरीके बताये हैं। कमी केवल यह है कि हम अभ्यास नहीं करते। अगर हम आज से शरीर से न्यारा (र्ॅूम्प) होने का अभ्यास शुरू कर दें तो बीमारी आने पर हमारा यह अभ्यास हमें उस समय भी सहायता देगा। परन्तु, बहन जी, क्या बताऊं! एक ओर बहन पर अत्याचार, दूसरी ओर माता जी बीमार, तीसरी ओर लौकिक पिता जी को भी पिछले दिनों व्यापार में कुछ घाटा हुआ है!! वह भी उदास रहते हैं और उनहें चिन्तित देखकर भी कुछ मेरी अवस्था में अन्तर आता है। ईश्वरीय ज्ञान तो वह भी सुनते हैं परन्तु आजकल उनकी अवस्था स्वरूप-विस्मृति की अवस्था है।

धीरज धरने और बीती को बिसराने से ही लाभ

ब्रह्माकुमारी – तो आप उन्हें स्मृति दिलाने का कर्तव्य कीजिये। क्या लौकिक पिता को ईश्वरीय ज्ञान

सुनाने में आपको संकोच अथवा लज्जा का अनुभव होता है? आप उन्हें बताइये क – ''यह सृष्टि रूपी नाटक तो एक बना-बनाया अर्थात् अनाद-निश्चित खेल है जिसमें हर कोई अपना कर्म-फल भोगता है। अत: भावी में जो था सो हो गया, अब धीरज धरने में और बीती को बिसारने में ही सुख है। अब बीती का चन्तन करने से क्या लाभ होगा? अगर चिन्ता करने से लाभ होता तब तो लोग व्यापार न करके चिन्ता ही करते रहते। यह संसार हार-जीत, सफलता-असफलता, लाभ-हानि का तो खेल ही है। अत: साक्षी होकर इस ड्रामा को देखना चाहिए। वर्ना जो नुकसान हुआ सो तो हुआ, अब जो जन्म-जन्मान्तर की कमाई करने के लिए अविनाशी ज्ञान-धन मिल रहा है, उसमें भी घाटा पड़ जायेगा! अत: अब तो इस ओर ध्यान देकर ईश्वर से सच्चा सौदा करने की ज़रूरत है। इससे सदा के लिए मालामाल हो जाओगे। चिन्ता करने की बजाय यदि प्रभु-चिन्तन करोगे तो सभी चिन्तायें मिट जायेंगी।''

जिज्ञासु – हाँ, बात तो ठीक है। यह तो मैं देख ही रहा हूँ कि उनकी अलौकिक कमाई में घाटा पड़ रहा है! बहन जी, चिन्ता करने की बजाए प्रभु-चिन्तन करने से सब चिन्ताएं मिटेंगी – यह तो आपने ठीक कहा है। परन्तु, बहन जी, विक्षिप्तता एक तरह से नहीं, कई तरह से आती है। अब आप देखिए, मेरी जो युगल है, वह भी कई बार बच्चों की बातों को या सास-ससुर की बातों को सहन नहीं कर सकती। इससे सारे घर का वातावरण बिगड़ जाता है। मैं तो चारों ओर से घिरा हुआ हूँ।

ब्रह्माकुमारी – जो बड़ा योद्धा होता है, वह बड़ा युद्ध करता है। समझना चाहिए कि मेरा पद बड़ा है, मेरा भविष्य उज्ज्वल है। बच्चों से भी प्यार, शीतलता और सम्मान से आप व्यवहार करेंगे तो बच्चे वश में हो जायेंगे। बच्चे प्यार में आकर तो कुछ भी कर सकते हैं। आप या आपकी युगल यदि क्रोध करेंगे, तो बच्चे बिगड़ जायेंगे। अत: पहले तो सदा अपनी स्थिति को सम्भालो और दूसरों के प्रति कल्याण की भावना रखो, फिर देखो कि वातावरण कुछ ही समय में ठीक होता है या नहीं। अत: अपनी युगल को भी समझाआ कि वह इस बात को याद रखे कि यह कलियुगी दुनिया काँटों की दुनया है, अब शिव बाबा फूलों का बगीचा अर्थात् सतयुग स्थापन कर रहे हैं। वहाँ पर कोई भी व्यिक्त किसी को भी दु:ख देने वाला नहीं होगा; इसलिए, अब वह रहा-सहा सहन कर ले, वर्ना फर अगले कल्प इसी काँटों की दुनिया में आना पड़ेगा। थोड़ा धीरज धरे तो मीठा फल मिलेगा।

जिज्ञासु – हाँ, बहप जी, धीरज बहुत अच्छा गुण है। हम लोग जल्दी में धीरज छोड़ देते हैं।

धीरज

ब्रह्माकुमारी – मनुष्य बहुत-सी परिस्थितियों को अपने उतावलेपन अथवा जल्दीबाज़ी के कारण बिगाड़ देते हैं। घर में किसी को बुखार हुआ और टेम्प्रेचर थोड़ा अधिक हुआ तो वह धीरज खो बैठता है और कभी कहता है कि – 'इस डॉक्टर को बुलाओ', कभी कहता है कि 'नहीं, दूसरे को बुलाआ!' कभी कहता है कि – 'पता नहीं उस डॉक्टर ने आने में देर क्यों लगा दी? उसे मारो गोली, तीसरे को

बुलाओ।' तीनों डॉक्टर आकर इकट्ठे होंगे तो फिर उलझन में पड़ जायेगा और किसी को डाँट कर कहेगा कि तुमने फलाँ डाक्टर को आने के लिए रोका क्यों नहीं था? बीमार ने दो दिन की दवाई ली परन्तु यदि उसकी अवस्था में अन्तर नहीं पड़ा तो कहेगा – ''छोड़ो जी, इस डॉक्टर को, यह निकम्मा है, हम और किसी से इलाज करायेंगे।'' तो देखिये, धैर्य धारण न करने के परिणामस्वरूप खर्च भी अधिक होगा, डॉक्टर भी नाराज़ होंगे और बीमार व्यक्ति भी कई डॉक्टरों का इलाज कराके परेशान होगा और समय भी बर्बाद होगा।

इसी प्रकार, मनुष्य कोई काम करता है तो इच्छा करता है कि इसका जल्दी ही फल निकल आये। यदि उसमें थोड़ी देर हो जाये अथवा फल निकलने में कुछ बाधाएं आएं तो वह उन्हें बर्दाश्त नहीं कर सकता। ऐसा हमेशा धैर्य की कमी ही के कारण होता है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति ने एक लेख लिखना शुरू किया। अभी उसका अभ्यास परिपक्व नहीं हुआ, लेख में वह खूबियाँ ही नहीं आई जो होनी चाहिए, समाचार-पत्र के सम्पादक ने पहले कभी उस व्यक्ति का प्रसिद्ध लेखकों में नाम ही नहीं सुना और इस कारण, उस व्यक्ति का लेख प्रकाशित नहीं किया। अब धीरज न होने के कारण वह व्यक्ति, जो कि अपने लेख के प्रकाशित होने की आशा लगाए बैठा है, इस देर को सहन नहीं कर सकता और कहने लगता है – ''अजी, संसार में अन्धेर है! मैंने इतना अच्छा लेख लिखा था, किसी ने छापा ही नहीं। छोड़िये, मैं भविष्य में कभी लिखूँगा ही नहीं....।'' इस कार धैर्य को छोड़ देने से उसमें एक अच्छी कला का विकास रुक जाता है।

एक माता का बच्चा स्कूल गया था परन्तु घर वापस आने में किसी कारण से देर हो गयी। स्कूल में मास्टर जी ने थोड़ा अधिक देर तक रोक लिया था क्योंकि परीक्षा निकट होने के कारण मास्टर जी ने विद्यार्थियों को एक-दो आवश्यक बातें बतानी थी। अब माता जी ने देखा कि आज बच्चा अभी तक नहीं आया उसे चिन्ता लग जाती है। थोड़ी देर के बाद वह रोने लग जाती है और ऑसू बहाते हुए पड़ौसियों से कहती है कि आज मुन्ना अभी तक नहीं आया! देर के कारण धैर्य को खो बैठने से उसमें यह हिम्मत नहीं रहती कि वह स्कूल जाकर पता ही कर ले। बल्कि, रोने के कारण उसके हाथ-पाँव फूल जाते हैं और बुद्धि काम नहीं करती।

धैर्य खोने से निर्णय-शक्ति और स्थिति खराब होती और स्वस्थ्य भी बिगड़ता है

तो आप देखेंगे कि जो मनुष्य किसी आड़े समय में धैर्य खो देता है, उसकी निर्णय-शक्ति भ्जी काम नहीं करती बल्कि वह जल्दबाज़ी में नई-नई उलझन पैदा कर देता है। उसकी स्थिति भी डोल जाती है। बातें सँवरने की बजाय बिगड़ जाती हैं। झगड़ा मिटने की बजाय बढ़ जाता है और समस्या सुलझने की बजाय अधिक विकट हो जाती है। अत: मनुष्य को चाहिए कि धैर्य धारण करे। शीघ्र ही सुख के दिन आयेंगे। यह संसार परिवर्तनशील है, कभी भी एक-जैसा नहीं रहता। आज कोई आपदा आई तो कल

नहीं परसों वह टल जायेगी क्योंकि इस संसार में सदा स्थाई चीज़ कोई नहीं है। केवल धीरज धरने की ज़रूरत है। आज कोई व्यक्ति अत्याचार करता है तो उसके मन में दया आयेगी क्योंकि हमारी इच्छा एक दिन उस पर प्रकट अवश्य होगी। परन्तु आज उसे सहन करने तथा कल तक धैर्य करने की ज़रूरत है और सहन करते समय भी हर्षितमुख होने की ज़रूरत है।

तीसरा दिन –

हर्षितमुखता, मधुरता और शीतलता

ब्रह्माकुमारी – कल आपको बताया था कि सहनशीलता और धैर्य बहुत ऊचे गुण हैं। परन्तु 'हर्षितमुखता' एक ऐसा गुण है कि इसे धारण करने वाले ज्ञानवान् मनुष्य की न केवल अपनी अवस्था आनन्दमय रहती है बल्कि इस द्वारा दूसरे लोगों की भी अलौकिक सेवा हो जाती है। यह सेवाकारी (ीन्र्मेंत) गुण है।

हर्षितमुख व्यक्ति के चेहरे पर चिह्न

ज्ञानवान् मनुष्य भले ही अपने मुख से ज्ञान का एक वचन भी न बोले, तो भी उससे मिलने वाले लोग, उसके मुख पर हर्ष की अमिट रेखाएं देखकर यह शिक्षा तो प्राप्त कर ही लेते हैं कि ईश्वरीय याद (योग) से जीवन ऐसा हर्षमय बनता है कि चाहे संसार क्यों न डगमगा जाये परन्तु ज्ञानवान् मनुष्य का हृदय सदा प्रफुल्लित रहता है। वह समझ जाता है कि सच्चे योगी के चेहरे पर चिन्ता, उदासी, थकावट, उलझन, नाराज़गी, निराशा आदि के चिह्न कभी प्रकट नहीं होते बल्कि उसके मन में सदा अतीन्द्रिय सुख और पभु-मिलन का आनन्द होने के कारण उसका चेहरा एक खिले हुए फूल के समान होता है। इस प्रकार, हर्षितमुखता एक ऐसा गुण है जोकि मूक भाषा में दूसरों को भी ईश्वरीय निमन्त्रण देता रहता है कि वे ईश्वरीय ज्ञान का खज़ाना प्राप्त करें और सहज योग द्वारा जीवन को श्रेष्ठ और सुखमय बनावें। जैसे इत्र की सुगन्धि, कोई पुरुषार्थ किए बिना, स्वत: ही फैल जाती है तथा दूसरों को भी खुशी देती है, वैसे ही हर्षित चेहरे को देखकर दूसरों को भी कुछ समय के लिए तो खुशी मिल जाती है। अन्य गुणों की धारणा कराने के लिए तो लोगों को कुछ ज्ञान सुनाना पड़ता है परन्तु 'हर्षितमुखता' तो तुरन्त उसके चेहरे पर स्वत: ही चली जाती है।

हर्षितमुख व्यक्ति मन-पसन्द, लोक-पसन्द और प्रभु-पसन्द क्यों होता है?

अत: इस गुण को धारण करने वाला व्यक्ति मन-पसन्द, लोक-पसन्द और प्रभु-पसन्द होता है क्योंकि इस गुण में अन्य कई श्रेष्ठ गुण भी हैं, जैसे कि सहनशीलता और सन्तुष्टता, जिनकी धारणा के बिना तो मनुष्य के चेहरे पर स्थाई हर्ष की रेखायें हो ही नहीं सकतीं। जिस मनुष्य का चेहरा कुढ़ा हुआ रहता है, जो व्यक्ति बात-बात में अपने चेहरे पर नाराज़गी लिख देता है, जो हर छोटी-मोटी परिस्थितियों में उलझन के चिह्न चेहरे प्रकट करता है, वह लोक-पसन्द नहीं होता और उसमें ज्ञान की खुशी तथा प्रभु-मिलन का आनन्द न होने के कारण वह प्रभु-पसन्द भी नहीं होता और वह स्वयं से स्वयं ही तंग होने लगता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि जीवन में कैसी भी घटना क्यों न घटे, कभी भी तंग, नाराज़, निराश, उदास या उत्साहहीन न हो बल्कि सदा हर्षित होकर रहे क्योंकि जैसा संस्कार हम अब बनायेंगे,

वैसा ही साथ ले जायेंगे; रोने वाला मनुष्य मर कर भी रोने वाली दुनिया में जायेगा और हँसने वाला मनुष्य हँसते लोगों की दुनिया में अर्थात् स्वर्ग में जायेगा।

जिज्ञासु – बहन जी, इसमें सन्देह नहीं कि यह गुण तो बहुत ऊंचा है परन्तु हमारे मन में हर्ष सदा टिक नहीं पाता। इसके लिए कोई युक्ति बताइये। हम कैसे सदा हँसमुख बनें?

हर्षितमुख बनने के लिए हंस के मुख के समान बनना ज़रूरी

ब्रह्माकुमारी – हंसमुख बनने के लिए 'हंसमुख' (हंस पक्षी के समान मुख वाला) बनना ज़रूरी है। जैसे हंस मोती चुगता है अथवा क्षीर ले लेता है और नीर छोड़ देता है, वैसे ही मनुष्य के नेत्र यदि गुण रूपी मोती ही चुगें और अवगुण रूपी कंकड़ छोड़ दें, उसके कान जब कोई चर्चा सुनते हैं तो ज्ञान रूपी क्षीर ले लें और व्यर्थ बात रूपी नीर छोड़ दें और यदि उसका विवेक हंस की तरह काम करे, न कि कव्वे या बगले की तरह, तो वह मनुष्य सदा हंसमुख अर्थात् हर्षितमुख ही रहेगा। यदि आप ध्यान देंगे तो महसूस करेंगे कि जब मनुष्य किसी का कोई अवगुण देखकर उसे मन में रख छोड़ता है अथवा इसकी-उसकी कोई गिराने वाली बात सुनकर अपनी बुद्धि में धारण कर लेता है अथवा यदि सद्विवेक से काम न लेकर बगले-भक्त, कपट-मुनि या कव्वे का-सा आचरण करता है, तभी उसका हर्ष गुम हो जाता है। अत: ज्ञानवान् को यह सदा याद रखना चाहिए कि मैं तो परमहंस की सभा का एक हंस हूँ, मुझे तो मोती ही चुगने हैं। मैं तो राजयोगी अथवा राज-हंस हूँ, मुझे तो क्षीर ही ग्रहण करना है, नीर छोड़ देना है। इस प्रकार जो हंस-मुखी मनुष्य होगा वह सदा हंसमुख-हर्षितमुख भी होगा ही होगा।

जिज्ञासु – बहन जी, यह तो आपने बड़ी अच्छी बात कही है कि हमें स्वयं को राजहँस समझना चाहिए और हँसमुखी ही रहना चाहिए। परन्तु यह कलियुगी संसार ऐसी माया नगरी है कि फिर-फिर हमारी खुशी का पारा उतर जाता है। बहन जी, शिव बाबा ने और ऐसी कौन-सी बातें बताई हैं जिनसे कि हमें बेहद की (असीम) खुशी मिल सकती है?

खुशी और खुमारी की बातें – 'हमें ऊंचे से ऊंचे परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं'

ब्रह्माकुमारी – शिव बाबा का तो सारा ही ज्ञान खुशी देने वाला है। परन्तु, उससे भी पहले तो आपको यह सोचना चाहिए कि सारी दुनिया जिसको चाहती है, ढूँढती है अथवा याद गरती है, स्वयं उस परम-पिता परमात्मा ने ५०० करोड़ मनुष्यों में से आपको चुना है – यह क्या कम बात है? अवश्य ही आपका ऊंचा भविष्य है, आपका कोई सौभाग्य ज़ोर पकड़ रहा है कि इतने सौ करोड़ व्यक्तियों में से शिव बाबा ने आपको अपनाया है, आपको अपना अनमोल खज़ाना दिया है और उस सर्व-समर्थ ने आपका विकर्मों में डूबता बेड़ा पार करने की जिम्मेदारी ली है! अत: पहले तो आपको इस बात की अपार खुशी होनी चाहिए कि सारे विश्व का जो पिता हे, जिसे भक्त लोग 'मालिक' भी कहते हैं, उसे मैंने पा लिया है!! ''पाना था जो पा लिया और क्या बाकी रहा!!!'' प्रभु-प्राप्ति होने से तो सब प्रापति

हो ही जाती है, अत: खुशी तो अपार होनी चाहिए। एकदम कापारी खुशी रहनी चाहिए। प्राप्ति से ही तो सदा खुशी होती है और अप्राप्ति वाले की खुशी गुम हो जाती है। अत: जबकि आपको परम प्राप्ति हो गई तो आपका खुशी का पारा तो दिन-रात चढ़ा रहना चाहिए क्योंकि परमात्मा तो 'बिगड़ी को बनाने वाला है', उसे तो 'मुश्किल-कुशा' (विघ्न-विनाशक), 'खिवैया', 'सुखदाता' आदि सभी उपाधियाँ दी जाती हैं। तो ऐसा ऊंचा जिस आत्मा का पिता, शिक्षक और सद्गुरु हो, उसे तो खुशी से फूला नहीं समाना चाहिए। किसी का पिता यदि किसी छोटी-सी नगरी का भी राजा होता है तो भी उसे खुशी रहती है; तो जो शाहों का शाह है, स्वर्ग के राजाओं का भी राज्य-भाग्य विधाता है, उसका जो 'गोद का बच्चा' (ँदजू्रे ज्गेर्ग्ल्त्ि म्प्त्) अर्थात् 'धर्म' के नाते से 'पुत्र' है, उसकी खुशी का तो कोई ठिकाना ही नहीं होना चाहिए। किसी को यदि कोई बहुत ही योग्य शिक्षक या गुरु मिल जाये तो वह भी समझता है कि अब मैं लायक-फायक, योग्य-निरोग हो जाऊंगा और कि अब मेरी तकदीर खुल जायेगी। परन्तु जिसको ज्ञान का सागर, त्रिकालदर्शी परमात्मा स्वयं शिक्षक और सद्गुरु के रूप में मिला हो, उसका तो समझो कि ऊंचा भाग्य बन ही जायेगा। वह तो लघु-त्रिकालदर्शी और लघु ज्ञान-सागर (श्रीू ऊग्र्व्र्ि्ग्ह् श्रीू ख्हदैतुल्त्ि) बन ही जायेगा। सो आपको तो तीनों कालों का ज्ञान मिला है ना? आप तो त्रिकालदर्शी बने हो और सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त के रहस्य को भी जान चुके हो। तो ज़रा सोचो कि आपकी कितनी ऊंची तकदीर है!! यह जो आपको ईश्वरीय ज्ञान का तिलक लगा है, यह तो भविष्य में स्वर्ग के दैवी स्वराज्य का तिलक बन जायेगा।

ब्रह्माण्ड और स्वर्ग का मालिक अथवा पद्मापद्म भाग्यशाली

किंचित सोचो तो आपका कितना ऊंच पद बना है! आप इस ज्ञान-बसल, योग-बल और पवित्रता-बल से अभी ब्रह्माण्ड के मालिक बन रहे हैं और भविष्य में स्वर्ग के राज्य के मालिक बनेंगे। इसलिए शिव बाबा कहते हैं कि यह सदा याद रखो कि – ''मैं पद्मापद्म भाग्यशाली हूँ क्योंकि मैं ब्रह्माण्ड का और सतयुगी सृष्टि का मालिक बनूँगा।''

डबल पूजा

शिव बाबा कहते हैं कि – आप अब ज्ञान-बल तथा योग-बल द्वारा जो पवित्रता आदि दिव्य गुण धारण कर रहे हैं और अन्य आत्माओं की ज्ञान-सेवा कर रहे ळें, उसके फल्स्वरूप आपकी निराकार आत्मिक रूप अर्थात् शालिग्राम केक रूप में भी पूजा होगी और आप मनुष्य से जो देवपद, अथवा पूज्य श्रीनारायण पद, प्राप्त करते हैं, उस देव पद की भी मन्दिरों में पूजा होगी। अत: यह कितनी खुशी की बात है कि इस ज्ञान को धारण करने से हमारी डबल पूजा होगी – शालिग्राम के रूप में भी और देवता के रूप में भी। तो शिव बाबा कहते हैं कि – ''मेरी तो केवल निराकार शिव रूप में पूजा होती है और मैं तो केवल ब्रह्माण्ड का ही मालिक हूँ परन्तु आप बच्चों का यह पुरुषार्थ ऐसा उच्च है कि आप

ब्रह्माण्ड और स्वर्ग, दोनों के मालिक बनोगे और आपकी निराकार तथा साकार दोनों रूपों में पूजा होगी।''

प्रभु स्वयं इस पुरुषार्थी जीवन की जो महिमा करते हैं उसे याद करो

इस प्रकार, यदि हम अपने ऊंचे भविष्य को अथवा उच्च प्रालब्ध को याद रखें तो हमें बेहद खुशी रहेगी और चेहरे पर सदा हर्ष रहेगा।अब हमारा यह जो पुरुषार्थी जीवन है वह बहुत ही ऊंचा है, इसका तो बहुत ही गायन है। जन्म-जन्मान्तर तो हम भक्ति-पूजा करते रहे और शिव बाबा की महिमा गाते रहे परन्तु अब तो शिव बाबा ने ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोगी शिक्षा देकर हमारा जीवन ऐसा बना दिया है कि वह स्वयं भी उसका गायन करता है!! वह कहता है कि -५ ''आप पद्मापद्म भाग्यशाली हो, आप नूरे रत्न हो, आप मेरे सिकीलधे बच्चे हो, आप तो सच्चे ब्राह्मण कुल भूषण हो, आप स्वदर्शन चक्रधारी हो, आपको ही स्वर्गीय राज्य-भाग्य देने के लिए मुझे आना पड़ा है,'' आदि-आदि। तो जबकि स्वयं परमात्मा भी हमारे इस पुरुषार्थी जीवन में हमको इतना उच्च टाइटिल देता है, हम यदि अपने इन टाइटल्स (उपाधियाँ) को भी याद रखें तो भी हमें अतुल खुशी होगी।

शिव बाबा से मिलने वाले वर्से की याद से हर्ष

इसके अतिरिक्त, हमें यह याद रखना चाहिए कि हमें तो अब परमपिता से इतनी अद्भुत और अनमोल विरासत मिलने वाली है कि जिसका कोई हिसाब नहीं। वर्तमान कलियुगी संसार में तो अनगिनत रोग हैं परन्तु हमें शिव बाबा जिस दुनिया में ले जा रहे हैं, उसमें तो कभी भी रोग नहीं होता, वहाँ तो 'कंचन काया' अथवा 'निरोगी काया' मिलती है। यहाँ तो अकाल मृत्यु होती है, वहाँ तो स्वेच्छा से तथा बिना कष्ट के देवता ऐसे शरीर छोड़ते हैं जैसे कोई वस्त्र उतारता है। इस कलियुगी दुनिया में तो मन की अशान्ति, धन की कमी, मित्र-सम्बन्धियों की ओर से परेशानी, राज्य की ओर से निचोड़ने वाले टैक्स और अन्य, भाषा-भेद, प्रान्त-भेद, धर्म-भेद आदि के झगड़े, कलह-क्लेश, अकाल, अतिवृष्टि, अना-वृष्टि, अग्निकाण्ड, बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाएं – अनगिनत दु:ख हैं! परन्तु सतयुगी पावन सृष्टि में तो एक दैवी धर्म, एक भाषा, एक दैवी राज्य है, प्रकृति दासी है, धन अनगिनत है, सुख-शान्ति स्थायी, सर्वांगीण और सब प्रकार की है।

कलियुगी दुनिया के अपार दु:ख और स्थापित होने वाली सतयुगी दुनिया के अपार सुखों की तुलना से हर्ष

इस प्रकार, आप जब इस कलियुगी दुनिया केक अपार दु:खों की, सतयुगी पावन सृष्टि के अपार सुखों से तुलना करेंगे और बुद्धि में यह बात रखेंगे कि अब आप पतित-पावन परमपिता परमात्मा के रूहानी बच्चे (धर्म-पुत्र) बने हैं जो कि आपको अपार सुखों की दुनिया में २१ जन्मों के लिए सम्पूर्ण सुख-शान्ति की विरासत दे रहा है, तो खुशी से आप पुलकित हो उठेंगे और शिव बाबा के प्रेम में विभोर

होकर आप अतीन्द्रिय सुख के झूले में झूलने लगेंगे। भाई साहब, उससे ऊंची प्राप्ति तो यदि पत्थर को हो, तो वह भी खुशी से नाठ उठेगा! हम कोई कमबख्त थोड़े ही हैं कि खुशी न हो? कमबख्त तो वे हैं जो माया के बने हैं, जो अभी तक भी विषय-विकारों में फँसे पड़े हैं और अज्ञान-निद्रा में खर्राटे भर रहे हैं। हमें तो अब शिव बाबा ने जगाया है, हम तो अब दिव्य गुणों की धारणा से जीवन बनाने के पुरुषार्थ में लग पड़े हैं, तो मानोकं कि स्वर्ग के स्वराज्य की गारण्टी तो हमारे माथे पर स्वयं ईश्वर ने अपनी कलम से लिख दी है।

हमारा तो जीवन ही धन्य है और जन्म का मुहूर्त ही उच्च जन्म-फल बता रहा है

वाह-वाह, हमारा तो जन्म ही धन्य है क्योंकि यह तो ब्रह्मा-मुख से स्वयं परमपिता परमात्मा शिव ने दिया है!! अत: हम, जो कि दिव्य जन्म लेकर 'ब्रह्मा-मुख-वंशावली' बने हैं, अब ईश्वरीय विरासत के अधिकारी तो हो ही गये हैं। स्वयं शिव परमात्मा ने ब्रह्मा-मुख द्वारा जब यह वचन दे दिये हैं कि – ''हे बच्चे, मुक्ति और जीवनमुक्ति आपका ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार है,'' तो फिर सोचने की क्या बात है? जो सचचे ब्राह्मण बनते हैं, अथात् स्वयं मन्सा, वाचा, कर्मणा पवित्र बन दूसरों को पवित्र बनाने की सेवा करते हं, वे ही तो देवता बनते हैं। उन ब्राह्मणों को देखो कितना ऊंचा माना गया है! आज तक भी सनातन धर्म वालों के यहाँ जन्म के समय से लेकर मृत्यु के समय तक कोई भी संस्कार होता है तो ब्राह्मण ही कराते हैं। ब्राह्मणों के बिना कोई शुभ कार्य नहीं किया जाता। तो आजकल के देहाभिमानी, विकारी और ईश्वरीय मर्यादा से विमुख ब्राह्मण भी देखो, आदिकाल में हुए सच्चे ब्राह्मणों के नाम पर खाते-कमाते और मान-सम्मान पाते रहते हैं! तो हम, जो सच्चे ब्राह्मण बने हैं, हमें इतना नशा, इतनी खुशी होनी चाहिए कि हमारा इतना ऊंचा पार्ट है।

हम ब्राह्मणों की कितनी मान्यता है

हमारा जन्म न केवल परमपिता परमात्मा द्वारा अलौकिक जन्म है बल्कि हमारे जन्म के तो समय का भी बहुत ऊंचा गायन है। ज्योतिषि लोग बच्चे के जन्म के समय अथवा घड़ी को जानकर ही तो उसका लग्न, उसकी राशि, उसकी जन्म-पत्री निश्चित करते हैं। तो हमारा जन्म ही ऐसे शुभ समय में हुआ है जिसे 'अमृतवेला', 'ब्रह्म-मुहूर्त' या 'पुरुषोत्तम संगमयुग' कहते हैं। सभी त्यौहार इस वेला से ही सम्बन्धित हैं। अत: इस समय जो आध्यात्मिक जन्म (मरजीवा जन्म) लेता है अथवा प्रभु का बनता है, उसकी जन्म-पत्री में तो यह निश्चित समझो कि वह 'मनुष्य से देवता' अथवा 'नर से श्रीनारायण बनता ही है। इसी समय ही तो राजयोगियों का, योग द्वारा, ऊंचा भाग्य बनता है। तो जबकि हमारा जन्म उच्च है, लग्न उच्च है, मुहूर्त उच्च है, कर्म अथवा पुरुषार्थ उच्च है, हमारा पिता, शिक्षक, सद्गुरु सर्वोच्च और सर्व-समर्थ है, तो निश्चय ही हमारा सौभाग्य भी सर्वोच्च ही है। तो क्या ये सब बातें खुशी दिलाने वाली नहीं हैं?

हमारे अलंकार कितने उच्च हैं – इस बात को याद करने से हर्ष

हमारे तो अलंकार भी उच्च हैं। शिव बाबा ने तो अब यह रहस्य समझा ही दिया है कि – ''बच्चे, स्वदर्शन चक्रधारी बनो तो चक्रवर्ती राजा बनोगे। हे वत्सो, ज्ञान की शंख-ध्वनि करो तो तुम्हारी सत-युगी प्रजा बनेगी। ज्ञान रूपी गदा से माया-जीत बनने से आप जगत-जीत बनोगे। इस अन्तिम जन्म के शेष रहे थोड़े-से समय में आप कमल के समान पवित्र रहोगे तो कमलापति (श्रीलक्ष्मी-पति) बनोगे। वत्सो, मैं आपसे वचन करता हूँ कि मैं आपको पवित्र दुनिया में ले चलूँगा।'' अत: हमारे तो ये सारे अलंकार ही ऐसे हैं कि अब तो न चाहते हुए भी ये हमें स्वर्ग के बगीचे में ले ही जायेंगे। ये अलंकार तो गोया अल्लादीन का चिराग है अथवा जादू की दुनिया या स्वर्ग में उड़ा ले जाने वाला गलीचा है। जो इनको धारण करेगा ये उनको उड़ाकर स्वर्ग के सिंहासन पर जाकर बैठायेंगे।

सारे कल्प में हमारा मुख्य पार्ट – यह हर्ष ही की बात है

इस प्रकार, देखो तो कितनी खुशी की बातें हैं! हमारा तो सारे ही कल्प में मुख्य पार्ट है। सतयुग में पूज्य देवी-देवताओं के रूप में हमारा ही पार्ट था। त्रेतायुग में चन्द्रवंशी राजा-रानी या सुखी प्रजा के रूप में भी हमने गायन-योग्य पार्ट बजाया। द्वापर-युग में अनन्य और अव्यभिचारी भक्ति का पार्ट भी हमने ही बजाया। कलियुग के अनत पर अब पुरुषोत्तम संगमयुग में भी हम ही सर्वोत्तम ब्राह्मणों के रूप में इस सृष्टि-मंच पर पार्ट बजा रहे हैं। हमारा वर्तमान समय का पार्ट तो स्वयं परमपिता परमात्मा शिव के साथ तथा संसार के जो पूर्वकालीन मुख्य-मुख्य पार्टधारी रहे हैं, उनके साथ है। अत: हम तो बहुत ही सौभाग्यशाली हैं कि हमें इतना उच्च पार्ट मिला है। अरे! हालीवुड (प्दत्त्ब्दद्) के नामीग्रामी ऐक्टरों के पार्ट को भी इतनी आत्माएं नहीं देखती होंगी। उनका पार्ट भी इतना समय मंच पर नहीं चलता होगा। इस सृष्टि-मंच पर हमारा पार्ट तो ऐसा है कि सारा कल्प चलता है। अरे, अब वह समय आने ही वाला है जब विश्व के ५५० करोड़ नर-नारी हमारे वर्तमान अलौकिक पार्ट को जानेंगे अथवा देखेंगे और माया पर विजय प्राप्ति के इस पार्ट के बारे में सुनकर आश्चर्यचकित होंगे।

जिज्ञासु – बहन जी, सचमुच आप द्वारा यह सारी चर्चा सुनते-सुनते, इस समय मैं बहुत ही आत्मिक सुख में हूँ और देह से न्यारा, ज्ञान की मस्ती में मस्त अनुभव कर रहा हूँ। परन्तु बहन जी, इस पुरुषार्थी जीवन में चलते-चलते कभी-कभी खुशी गुम हो जाती है, उसका क्या कारण है और उसका निवारण क्या है?

खुशी के गुम होने का कारण क्या है और उसका निवारण क्या हे

ब्रह्माकुमारी – जैसे ईश्वरीय याद अथवा योग से हमें खुशी मिलती है, वैसे ही खुशी गुम होने के कारण माया, कोई-न-कोई विकार अथवा कोई-न-कोई भूलें हैं। अत: मनुष्य को चाहिए कि यदि कोई व्यर्थ संकल्प मन में चलता हो तो निमित्त बनी हुई बहनों द्वारा अपनी मूंझ (उलझन) या अवस्था बाप-दादा

(शिव बाबा तथा अव्यक्त ब्रह्मा बाबा) के आगे रखें ताकि यह बीमारी जल्दी से जल्दी खत्म हो और आगे के लिए भूल से बचने के लिए कोई शिक्षा, कोई सावधानी आदि मिल जाये और भूल से अब मन पर जो बोझ-सा महसूस होता है, वह भी हल्का हो जाये। भूल करके भूल का ही चिन्तन करते रहने से तो कोई लाभ नहीं, अर्थात् उसी ख्याल में पड़े रहना कि – ''हाय, मेरी अवस्था ठीक नहीं है, मुझसे भूले हों जाती हैं'' – इससे तो भूल मिटेगी नहीं, बल्कि भूल से होने वाली पीड़ा की मियाद (अवधि) बढ़ेगी ही। अत: यदि कोईऐसी भूल हुई भी है तो भी उसका ख्याल छोड़कर, आगे के लिए भूल न करने का दृढ़ संकलप लेकर, आगे बढ़ने की बात करनी चाहिए। भूल से भारी हो जाना तो दूसरी भूल करना है। जिस कमी या कमज़ोरी के कारण भूल होती है, उसको भी अच्छाई अथवा सम्पूर्ण अवस्था का मनन करने से भरा जा सकता हे, न कि भूल का चिन्तन करने से। अत: सदा यह पुरुषार्थ करना चाहिए कि बुद्धि की लाइन किल्यर (त्हा र्ण्ै) रहे अर्थात् बुद्धि किसी उलझन में न रुकी हुई हो, मन में कोई विकल्प या विकार रूपी रोड़ा न अटका हो। इसके लिए ज्ञान का घृत डालते रहना चाहिए ताकि ईश्वरीय याद का दीपक न बुझे।

संसार में हरेक का अपना-अपना अनादि पार्ट है, दूसरों को देखकर ईर्ष्या-द्वेष नहीं

खुशी तब कम होती है जब मन में किसी के प्रति ईर्ष्या या द्वेष का भाव उत्पन्न होता है। परन्तु ज्ञानवान मनुष्य को चाहिए कि जब उसके मन में ऐसा भाव उत्पन्न हो तब सोचे कि यह तो मेरी गिरावट की निशानी है। महानता का चिह्न तो परोपकार, हृदय की विशालता, चित्त की उदारता और दूसरे के प्रति सद्भावना और कल्याण की भावना है। संसार में हरेक आत्मा का अपना-अपना अनादि पार्ट है, कोई भी अपने पुरुषार्थ से या किसी पूर्व कम की प्रालबध के रूप में ऊपर चढ़ता है तो उसको देखकर तो यह सोचना चाहिए कि – ''इसने कभी-न-कभी कोई ऐसो उचच कर्म किया है जिससे इसको ऊंची गति मिली है; अब मैं भी उच्च पुरुषार्थ करूँ। इसके पार्ट की मेरे पार्ट से कहाँ तुलना है? यहाँ तो हरेक का पार्ट अलग-अलग है। सब एक तो हो ही नहीं सकते। दूसरे के प्रति ईर्ष्या या द्वेष रखने से दूसरे की प्रालबध कम तो हो नहीं जाती, न ही अपनी प्रालब्ध ऊंची होती है, बल्कि अपने ही जीवन में गिरावट आने के फलस्वरूप अपनी ही प्रालब्ध में घाटा पड़ता है और अपने ही मन में वर्तमान समय भी अशान्ति होती है तथा आध्यात्मिक उन्नति भी रुक जाती है और योगाभ्यास में भी विघ्न पड़ता है। अत: दूसरे की उन्नति को देखकर सही तरीका तो यह है कि हम अपना पार्ट अपने ही पुरुषार्थ से उच्च बनाने की कोशिश करें और उसके लिए सहनशीलता तथा धीरज से काम लें और उस व्यक्ति से मधु-रता से व्यवहार करें। दूसरे की उन्नति को देखकर यदि हम अपने मन में खुश होंगे और मधुरता से व्यवहार करेंगे तो निश्चय ही यह दृष्टिकोण उन्नति पर ले जाने वाला सिद्ध होगा और दूसरे व्यक्ति से हमारा टकराव भी नहीं होगा, न जीवन में क्लेश बढ़ेगा। हम अपने जीवन से ईर्ष्या (र्वैत्दल्ब्) निकालें

अर्थात् दूसरों से रीस न करें, स्पर्धा (हंन्ब) चाहे करें, अर्थात् रेस (ैम) बेशक करें।
इसी प्रकार, कभी-कभी क्रोध का अंश अथवा कड़वापन मन में आता है, तो यह सोचना चाहिए कि – ''यह क्रोध तो बहुत बड़ा भूत है, यह तो खुशी को अथवा ज्ञान के खज़ाने को लूटने वाला डाकू है, इसे तुरन्त निकाल बाहर करना चाहिए। मन को निर्विकार स्थिति में रखने से ही मन में खुशी रहेगी और जो मन का दर्पण अर्थात् मुख है उस पर हर्ष दिखाई देगा।
जिज्ञासु – बहन जी, यह मनोविकार तो हर्ष को नष्ट करने वाले ही हैं परन्तु जीवन में बहुत-सी परि-स्थितियाँ ऐसी भी आती हैं जोकि तूफान की तरह से मन रूपी सरोवर में वेग अथवा लहरें पैदा कर देकती हैं।
परिस्थितियाँ हमारी ही पैदा की हुई हैं
ब्रह्माकुमारी – परिस्थितियाँ तो स्वयं हमारी ही पैदा की हुई हैं। हमारे ही कर्म हमारे सामने जब लौट कर आते हैं तो उनका सामना तो करना ही होगा, चाहे कोई हंस कर सामना करे, चाहे रोते हुए। पर रोने से तो भोगना बढ़ती ही है। अत: जबकि हम परिस्थितियों अथवा धारणाओं को रोक भी नहीं सकते तो हमें उनके प्रति दृष्टिकोण (ूलू) बदलना चाहिए। ठीक दृष्टिकोण अपनाना तो हमारे अपने वश की बात है।
परिस्थितियों के प्रति ठीक दृष्टिकोण अपनाना ज़रूरी है
उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि किसी को रोग ने आ घेरा है। अब उस रोग के प्रति एक दृष्टि-कोण तो यह हो सकता है कि मनुष्य चिन्ता में पड़ जाये कि अब क्या होगा और वह दु:ख के मारे चिल्लाने लगे। दूसरा दृष्टिकोण, जो ही वास्तव में ही ठीक है, यह हो सकता है कि मनुष्य सोचे कि मैंने जो बद-परहेजी की है, उसका ही यह फल है और मेरे किये का परिणाम तो मुझे भुगतना ही पड़ेगा, यह तो मेरे पूर्व-जन्म के कर्मों की प्रालबध है; चलो यह कर्म-खाता भी चुकता हुआ, सिर से विकर्मों का बोझ हल्का हुआ!! इस दूसरे प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाना ही ज्ञान है; इससे ही मनुष्य के चेहरे पर और चित्त में हर्ष बना रहता है।
इसी तरह, मान लीजिए कि किसी मित्र-सम्बन्धी या स्नेही बन्धु की मृत्यु हो जाती है। तो एक दृष्टिकोण तो यह हो सकता है कि मनुष्य इसे एक असह्य क्षति माने, मोह-ममता के भाव में टिक कर रोये और चिल्लाये; दूसरा दृष्टिकोण यह हो सकता है कि वह सोचे कि – ''आत्मा तो अविनाशी है, उसने किवल चोला बदला है। मेरे साथ उसका पार्ट अथवा कर्म का लेखा इतना ही था। अब वह पूरा हो जाने के कारण, उसका दूसरे किसी स्थान पर दूसरे नाम-रूप से पार्ट शुरू हुआ है, इसीलिए उसने उस पार्ट कि लिए शरीर रूपी वस्त्र और वातावरण आदि सब बदला हे। पहले भी तो वह आत्मा कहीं से शरीर छोड़ कर आयी थी और यहाँ से उसने एक शरीर रूपी चोला लेकर हमारे साथ पार्ट बजाया था; वह

सदा से तो हमारे साथ थी नहीं, न ही हम सदा से उसके साथ थे। तो जो सम्बन्ध अविनाशी अथवा सदा-सर्वदा का नहीं था, वह तो एक दिन समाप्तज होना ही था। जबकि इस संसार रूपी कर्म-क्षेत्र पर है ही सब कर्मों का लेन-देन और उस व्यक्ति का नाम-रूप-सम्बन्ध से हमारे साथ कर्म-खाता नहीं रहा, तो फिर वह पार्ट आगे चलता भी क्यों कर ? इस ज्ञान-युक्त दृष्टिकोण को अपनाने से मनुष्य के मन में दु:ख की रेखा नहीं आएगी बल्कि अज्ञानी जिसे 'शोक' की परिस्थिति मानता है, उसमें भी ज्ञानी हर्षि-तमुख रहेगा क्योंकि वह जानता है कि रोने से तो मृतक आत्मा वापस लौट कर आयेगी नहीं, न उसे शान्ति मिलेगी, बल्कि योग में स्थित होकर उस आत्मा को शान्ति की अचंलि दी जा सकती है, अत: योग-स्थित होकर हर्षित और शीतल रहना ही अपने लिए भी और मृतक की आत्मा कि लिए भी कल्याणकारी है।

शीतलता, मधुरता और दान

शीतलता और मधुरता ऐसे ही गुण हैं जो मनुष्य को हरेक परिस्थिति में शान्ति देते हैं। जैसे गर्मी से सताये हुए मनुष्य को जल से ठण्डक मिलती है या प्यास से मरते हुए मनुष्य को पानी की अंचलि भी प्राण-रक्षक और शान्तिकारक होती है, वैसे ही शीतलता और मधुरता जिसके मन में है उसके मन में तो शान्ति है ही परन्तु जिनके प्रति इनका व्यवहार होता है, उन्हें भी वह गुण शान्ति देते हैं, जैसे आग लगने पर फायद बिग्रेड (ईगर्ग्रु) अथवा पानी का टैंक ही काम आता है, वैसे ही क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने के लिए, शोकाकुल तथा चिन्ता से व्याकुल मनुष्य को शान्ति प्रदान करने के लिए शीतलता और मधुरता रूपी गुण हैं१

जैसे मधु में एक ऐसा आकर्षण है कि लोग उनका स्वाद लेना चाहते हैं और उसके रस और शक्ति से आनन्दित होने के लिए उसकी ओर खिंचे चले जाते हैं, वैसे ही मधुरता में भी एक ऐसा आकर्षण है कि लोग मधुर वचनों को सुनने को लालायित रहते हैं क्योंकि उससे उन्हें बहुत सुख मिलता है। इसलिए शिव बाबा कहते हैं कि – ''मधुर बनो, मीठे बनो अथवा खीर-खण्ड बनो क्योंकि मधुरता ही एकता और स्नेह लाती है और एकता तथा स्नेह ही शान्ति और सुख को लाते हैं। जहाँ मधुरता और शीतलता नहीं है, वहाँ झगड़ा और कलह होता रहता है और उस घर में तो पानी के घड़े भी सूख जाते हैं क्योंकि वहाँ क्रोध और नफरत (घृणा) की अग्नि सदा जलती रहती है।

जिज्ञासु – बहन जी, यह तो आपने एक बहुत अच्छी बात कही है कि मधुरता और शीतलता से स्नेह और एकता का भाव पैदा होता है और उससे ही सुख और शान्ति होती है। परन्तु बहन जी, यह गुण हममें धारण कैसे हों ?

ब्रह्माकुमारी – इसके लिए यह याद रखना चाहिए कि हम सभी एक ही ईश्वरीय कुल के हैं और ईश्वर तो प्यार का सागर है, अत: हम सभी को भी प्यार से, एक परिवार के भाई-भाई की तरह बहुत स्नेह-

युक्त व्यवहार करना चाहिए। आज लोग कहते हैं कि – ''हिन्दू-मुस्लिम, सिख-ईसाई, सब आपस में भाई-भाई हैं'', परन्तु इन सब भाइयों का एक बाप कौन है, जिसके एक मत पर हमें चलना तथा एक-मत (ळहगू) होना है – यह न जानने के कारण आज उनमें आपस में एक-दूसरे से नफरत है और और एक-दूसरे को खूनी ऑखों से देखते हैं। एक बाप को जानने से ही आपस में भाई-भाई का सम्बन्ध जुटता है और एक मत निर्धारित होता है और यह जानना ज़रूरी है कि यह भाई-भाई का प्यारा नाता आत्मिक सम्बन्ध से है। अत: जबकि लोग आत्मा-निश्चय में ही नहीं रहते और एक बाप को, जो कि प्यार का सागर है और एक श्रेष्ठ मत अथवा सद्बुद्धि देने वाला है, उसे भी नहीं जानते तो आपस में भाई-भाई का सम्बन्ध कैसे जुटे और स्नेह तथा एकता कैसे आये ?

जिज्ञासु – अब मेरी समझ में यह बात बैठी है – ''हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई'' या ''हिन्दी-चीनी भाई-भाई'' कहने के बाद भी आज एकता और शान्ति क्यों नहीं है।

ब्रह्माकुमारी – अब तो इस बात को जानने के बाद सबसे खीर-खण्ड होकर रहना है, सबसे मधुरता और शीतलतापूर्वक चलना है, ऐसा कि आप न बोलें परन्तु आचरण ही बोले कि सचमुच यह ईश्वरीय कुल का है, यह काँटे से फूल बना है और इसके वचन तो ऐसे मीठे और खुशबूदार हैं जैसे कि स्वर्ग के बगीचे के फॅल् अथवा फूल होते हैं। आप में इतना मिठास होना चाहिए कि लोग कहें कि यह जिस वृक्ष (कुल) का फल (सदस्य) है, उसका बीज (बाप) स्वयं प्रेम का सागर परमात्मा है।

जिज्ञासु – ऐसी ही कोशिश रहेगी!

ब्रह्माकुमारी – देखो, आज मनुष्य एक-दूसरे से ऐसे बोलते हैं जैसे कि एक-दूसरे को पत्थर मारते हों, तभी तो वे एक-दूसरे के हृदय को छलनी कर देते और दु:ख देते हैं। अब बाप कहते हैं – यह दु:ख का देना और दु:ख का लेना बन्द करो वर्ना जो दूसरे को दु:खी करता है, वह दु:खी होकर मरता है। इसलिए अब यह कड़वापन रहना नहीं चाहिए बल्कि अब अपनी वाणी में मिठास भरो; शिव बाबा हम आत्माओं को सदा ''मीठे बच्चे, मीठे बच्चे'', ''सिकीलधे बच्चे'' – ऐसे शब्दों से पुकारते हैं और हमारी वाणी में मधुरता अथवा अमृत भरा होने की बजाय ज़हर भरा हो – यह एकदम नाफरमाँबरदान (अवज्ञाकारी) और कपूत बच्चों के लक्षण हैं।

जिज्ञासु – बहन जी, सचमुच वाणी पर तो बहुत-कुछ निर्भर करता है।

ब्रह्माकुमारी – यह तो है ही। मनुष्य की वाणी से ही पता चल जाता है कि इसके मन में क्या है। जैसा मनुष्य, वैसे उसके वचन। जितना कोई स्वयं शीतल होगा, उतना उसके वचन शीतल होंगे। वाणी ही मनुष्य को तख्त दिला देती है और वाणी ही मनुष्य को फाँसी के तख्ते पर ले जाती है। अत: शिव बाबा कहते हैं कि सदा कोयल-जैसे मीठे ज्ञान-गीत ही बोलो, अब माया के वश होकर कड़वी बातें करना बन्द करो।

देखो तो शिव बाबा कितना मधुर है! अपनी मधुरता और शीतलता के कारण ही तो वह संसार की सभी आत्माओं को चकमक (चुम्बक, ऐंहू) की तरह अपनी ओर खींच लेता है। उसको भक्त लोग कितने दिल से प्यार करते हैं!! उसकी मधुर और शीतल वाणी – भगवद्गीता– का लोग प्रतिदिन पाठ करके उसे दोहराते हैं क्योंकि उसमें मिठास है।

आज मधुरता, स्नेह और शीतलता न होने के कारण ही सारा भ्रष्टाचार फैला हुआ है, वर्ना जहाँ मधुरता और शीतलता हो वहाँ स्नेह और सहानुभूति होती है और जहाँ स्नेह तथा सहानुभूति और भ्रातृ-भाव हो, वहाँ एक-दूसरे से न रिश्वत ली जाती है, न मिलावट की जाती है, न पगड़ी माँगी जाती है और न ब्लैक किया जाता है, न वस्तुओं को आग अथवा पत्थर-वर्षा से नष्ट किया जाता है। आज जगह-जगह लोग आन्दोलन करते, पत्थर मारते, आग लगाते और तोड़-फोड़ करते हैं। व्यापारी पगड़ी माँगते और मिलावट करते हैं और सरकारी कर्मचारी रिश्वत माँगते हैं क्योंकि वे सभी एक-दूसरे को एक ही ईश्वरीय परिवार के भाई नहीं मानते, कारण कि न वे एक-दूसरे को आत्मिक दृष्टि से देखते हैं और न ही उन्हें सर्व आत्माओं के पिता परमात्मा की याद रहती है। अत: यदि लोग आत्मा-निश्चय में तथा ईश्वरीय स्मृति में स्थित हों तो उनमें परस्पर भाई-भाई का सम्बन्ध जुटेगा और मधुरता तथा शीतलता का व्यवहार होगा।

जिज्ञासु – बहन जी, पहले जैसे आपने एकता के लिए शीतलता और मधुरता को हल बताया था, वैसे ही आपने अब रिश्वत, ब्लैक, मिलावट आदि की समस्याओं काभी सुन्दर विश्लेषण किया है और बहुत ही उत्तम हल बताया है। बहन जी, 'शीतलता'-'शीतलता' शब्द को भी बार-बार बोलते-बोलते मेरे मन में शीतलता का अनुभव होता है!

ब्रह्माकुमारी – तो प्रैक्टिकल रूप में जीवन में शीतलता का गुण कितना शान्तिकारी होगा!

देखो गर्मी से सताए हुए मनुष्य वृक्ष की शीतलता और छाँवों में बैठकर ही हर्ष को प्राप्त होते हैं; तो स्पष्ट है कि जिसके मन में शीतलता होगी, उसके अपने मन में भी हर्ष होगा और मुख पर भी, और उससे दूसरों को भी शीतलता और हर्ष मिलेगा। तो आजकल, जबकि मनुष्य माया के अनेकानेक वारों के कारण दु:खी है, उनसे मधुरता और शीतलता से व्यवहार करना होगा, उन्हें सुख देकर सुख का भागी बनना है। अगर कोई अपने घर वालों को धन व सम्पदा दे परन्तु उनसे मधुर और शीतलत व्यवहार न करे तो भी लोग उससे हर्षित नहीं रहते।

यदि कोई डॉक्टर रोगी को एक अच्छी औषधि दे परन्तु रोगी के साथ मधुर वचनों से न बोलकर कड़क कर तथा कड़वा बोले तो रोगी उसकी चिकित्सा छोड़ जाता है अथवा पूरा लाभ नहीं ले सकता। इसी प्रकार, एक समाज-सेवी, बहुत सेवा करते हुए भी यदि शीतल तथा मधुर व्यवहार नहीं करता तो लोग उससे दूर भागते हैं। इसी तरह, एक ज्ञानवान तथा रूहानी सेवक के लिए तो मधुरता और शीतलता के

गुण अत्यन्त आवश्यक हैं, वर्ना उस रूखे और कड़वे व्यक्ति से रूखा ज्ञान कौन सुनना चाहेगा?
अत: शिव बाबा बार-बार समझाते हैं कि – ''मीठे बच्चो, अब मैं इस संसार रूपी खाड़ी, नदी (र्ण्ह्हात) से पार क्षीर सागर अर्थात् सतयुगी प्रेम-भरी दुनिया में ले जाने आया हूँ। इस कलियुगी खाड़ी, नदी को पार करने के लिए आप मधुरता और शीतलता रूपी चप्पू धारण करो। वत्सो, सतयुगी दुनिया में कोई किसी को तिरछी, टेढ़ी या दुश्मनी की ऑख से नहीं देखता बल्कि सब एक-दूसरे को देखकर खुश होते हैं। सतयुगी दुनिया में सब एक-दूसरे को अपने हृदय में समा लेते हैं। वहाँ इतनी मधुरता और इतनी शीतलता है, तभी तो उसे 'सचखण्ड', 'स्वर्ग', 'क्षीर सागर' अथवा 'सुखधाम' कहते हैं जिन नामों को सुनकर भी मन में हर्ष आ जाता है। उस समय के देवताओं की पार्थिव मूर्तियों के सामने भी आज जब लोग मन्दिरों में जाते हैं तो भी उन मूक (एग्तहू) मूर्तियों से भी लोग शीतलता और उनके मधुरता तथा हर्ष के चिह्न देखकर शीतलता तथा शान्ति का अनुभव करते हैं; तो सोचने की बात है कि जब वे देवी-देवता साक्षात् रूप में इस सृष्टि में होंगे तब कितनी न मधुरता और शीत-लता होगी, कितना न स्नेह और प्यार होगा! उस समय के बारे में तो प्रसिद्ध है कि कितना प्यार था कि 'शेर और गाय भी एक घाट का पानी पीते थे।' अत: अब जबकि मैं वही दुनिया फिर से स्थापित करने आया हूँ, तो आप अपने जीवन में इतनी मधुरता और शीतलता तथा प्यार लाओ कि एक-दूसरे के प्रति मन में कड़वापन, बदबू, नफरत या गर्मी नाम-मात्र भी न रहे। इस नरकपुरी में मनुष्य जो एक-दूसरे को बिच्छू की तरह काटते हैं और मुख से ज़हर उगलते हैं कि जिससे दूसरे का मुख नीला-पीला कर देते और उस मनुष्य को निरुत्साह तथा मूर्छित कर देते हैं, अब उस आसुरी मर्यादा को छोड़ो और मुझ 'सुखदेव' के बच्चे 'सुखदेव' (दूसरों को सुख देने वाले) बनो।''
इस प्रकार, शिव बाबा के शीतल वचन धारण करके हमें शीतल बनना चाहिए और मधुरता को धारण करना चाहिए। मधुरता और शीतलता को धारण करने से हमारे जीवन में हर्ष आयेगा। वही मन का हर्ष हमारे मुख पर 'हर्षितमुखता' के रूप में प्रकट होगा। अगर हम लोगों से मधुरता तथा शीतलता से व्यवहार नहीं करेंगे तो उन्हें हमारे कर्मों से हर्ष नहीं होगा बल्कि दु:ख होगा और उन्हें हमसे हर्ष न होता देखकर हमें स्वयं अपने आप से भी हर्ष नहीं होगा, तब भला हर्षितमुखता कहाँ से आएगी? जो दूसरों को दु:ख दे, क्या उसे कभी सच्चा और स्थायी हर्ष हो सकता है? कभी नहीं। इस संसार में मनुष्य दूसरों को जो दु:खप देता है, वह उसके मन में वैसे ही लौट कर आता है जैसे कि गुम्बद में बोलने वाले व्यक्ति की अपनी आवाज़ लौटकर उसके अपने ही पास आती है। अत: याद रहे कि दूसरों को सुख देने से, दान करने से, उनकी सेवा करने से तथा पुण्य करने से ही अपने मन में भी हर्ष होता है और हर्षित मनुष्य के मुख से शीतलतकारी तथा मधुर वचन निकलते हैं१
अत: आज मनुष्य को शोक, दु:ख तथा उदासी का जो ग्रहण लगा हुआ है, उसके लिए उसे चाहिए कि

पाँच विकारों का दान परमपिता परमात्मा को कर दे क्योंकि कहावत भी है कि – ''दे दान तो छूटे ग्रहण''। देह (शरीर) का दान तथा इन विकारों का दान परमात्मा को कर देने से मनुष्य का मन हल्का हो जाता है, तभी उसके मुख पर हर्ष के चिह्न आते हैं और सच्चा हर्ष होने से ही उसका स्वभाव शीतल तथा मधुर होता है।

दान करने वाला हर्ष रूपी वरदान पाता है

इसके अतिरिक्त, दूसरों को ज्ञान-दान, गुण-दान तथा योग-दान करने से सारी आत्माओं का जीवन श्रेष्ठ बनता है और उनके कल्याण एवं सुख के लिए निमित्त अथवा सेवाधारी बनने से भी मनुष्य को कोटि-कोटि यज्ञों का फल्-जैसा हर्ष होता है। जो मनुष्य ज्ञान, दिव्य गुण तथा योग का दूसरों को दान देता है, वह मानो ईश्वर के गुणों और कर्तव्यों को अपनाता है और पुण्यात्मा तथा महादानी (झ्फ्र्त्हूप्दज्ञे) बनता है; अत: वह ईश्वर से हर्ष अथवा आनन्द प्राप्त करता है। वह परमपिता की कृपा तथा आशीर्वाद अथवा वरदान का सौभाग्य प्राप्त करके खुशी पाता है।

इसके अतिरिक्त, मनुष्य के पास जो खज़ाना हो, उसे देखने से भी मनुष्य के मन में खुशी जाग्रत होती है। अत: ज्ञानवान मनुष्य को ज्ञान-सागर एवं रत्नागर परमपिता परमात्मा से जो अनमोल ज्ञान-रत्न मिले हैं, जो दिव्य गुणों का अनमोल श्रंगार मिला है और जो योग रूपी अतुल खज़ाना मिला है, उसे अपने सामने लाना चाहिए, अर्थात् उसका मनन करना चाहिए, उसकी याद दुहरानी चाहिए। इससे मनुष्य को खुशी का पारावार नहीं रहेगा और उसके हर्ष के कारण उसमें मधुरता तथा शीतलता भी आएगी तथा अन्य भी बहुत-से दिव्य गुण धारण होंगे और दूसरों को ज्ञान-दान करने का विचार भी आयेगा। जो व्यक्ति मनुष्यों को ज्ञान-दान, गुण-दान और योग-दान नहीं करता और ईश्वर को अपने विकार दान नहीं करता, वह स्थाई रीति से हर्षितमुख नहीं हो सकता।

चौथा दिन –

नम्रता और निरहंकारिता

ब्रह्माकुमारी – सभी दिव्य गुण मनुष्य को ईश्वर के समीप ले जाने वाले और आत्मा को उन्नति के पथ पर ले जाने वाले हैं, और, जो उन्हें धारण करता है उस मनुष्य का तथा दूसरों का भी रंजन करने वाले हैं। इसी प्रकार, सभी आसुरी गुण मनुष्य को प्रभु से विमुख करके दूर हटाने वाले, उसे गिरावट की ओर ले जाने वाले, उसके मन को कल्पाने वाले तथा दूसरों को भी दु:ख देने वाले हैं। परन्तु सभी आसुरी लक्षणों में भी अहंकार अथवा देह-अभिमान आत्मा के कल्याण का सबसे बड़ा दुश्मन है और सभी दिव्य गुणों में से नम्रता एवं निरहंकारिता एक ऐसा गुण है जो कि मनुष्य को ईश्वरीय शिक्षा की अधिकाधिक धारणा करने में सहायता देता है और उन्नति की चढ़ाई चढ़ते हुए मनुष्य को ऊंचाई से गिरा कर चकनाचूर होने से बचाता है। अत: ज्ञानवान मनुष्य को नम्रता अवश्य धारण करनी चाहिए। मैंने पहले दिन आपको बताया कि अंतर्मुखता और गम्भीरता गुणों की खान हैं। दूसरे दिन यह स्पष्ट किया था कि किसी भी उच्च लक्ष्य की प्रापति के लिए (जैसे कि हमारा लक्ष्य जीवनमुक्ति की प्राप्ति है) सहनशीलता और धैर्य की आवश्यकता है। तीसरे दिन मैंने यह बताया था कि हर्षितमुखता और मधुरता एवं शीतलता मनुष्य को मन-पसन्द, लोक-पसन्द और प्रभु-पसन्द बनाने वाले गुण हैं और कि हर्षितमुखता तथा मधुरता सेवाकारी (ईन्र्मेत) गुण भी है। अब यदि हमें इस बाम का प्रैक्टिकल प्रमाण लेना हो कि किसी मनुष्य के जीवन में ये गुण हैं या नहीं तो हमें उस व्यक्ति के व्यवहार में देखना चाहिए कि उसमें 'नम्रता' है या नहीं अर्थात् अहंकार है तो समझ लेना चाहिए कि उसमें अन्तर्मुखता और गम्भीरता की भी कमी है क्योंकि अहंकार मनुष्य को बहिर्मुखता में ले आता है।

अहंकारी मनुष्य बेगुण अथवा 'बैंगन' जैसे हैं? अहंकारी के चिह्न

अहंकारी मनुष्य हर बात में स्वयं को ऊंचा सिद्ध करना चाहता है और अपनी महिमा सुनने की इल्लत या आदत वाला होता है; अत: वह बात-बात में बोल पड़ता है; वह अपना दिखावा (एप्दै) करना चाहता है। वह किसी दूसरे की बात को पूरी तरह सुनने से पहले ही अपना सयानापन दिखाने के लिए अपना मुख खोल देता है, स्वयं को सच्चा (ग्ए) सिद्ध करने के लिए वह उतावलापन प्रकट करता है और अंतर्मुखता के रसपान को छोड़कर वह यही देखने में लगा रहता है कि लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, क्या उसकी राय पूछते हैं? क्या वे उसकी बात को वज़न देते हैं और क्या वे उस राय को मानते भी हैं या नहीं या कि वे उसे कुछ भी नहीं समझते और न उसकी आवभगत करते हैं? इस प्रकार, वह गम्भीरता और अन्तर्मुखता को छोड़कर, राज-कुलोचित (दर्ब्ब) व्यवहार को छोड़कर, अहंकार के वश हुआ, हल्कापन, ओछापन और बहिर्मुखता व्यक्त करता है।

इसी प्रकार, जिस मनुष्य में नम्रता नहीं है अर्थात् अहंकार है तो समझना चाहिए कि उसमें सहनशीलता और धैर्य भी नहीं है क्योंकि अहंकारी मनुष्य दूसरे किसी को अपने से आगे या ऊपर जाता देखकर सहन नहीं कर सकता बल्कि डाह या ईर्ष्या के मारे दु:खी होकर, धीरज खोकर अपने सुख स दु:खदायक वचन बोलता है। जहाँ अहंकारी मनुष्य का थोड़ा मान न हुआ, जहाँ उसकी आवभगत में थोड़ी कमी हुई, जहाँ उसे पूरी सुविधायें (झ्रन्तुो) न दी गई, उसकी राय न पूछी गयी या उसकी बात को मन-वाछिंत महत्व न दिया गया, वहाँ ही वह सहनशीलता और धीरज के सिंहासन से कूद कर नीचे आ खड़ा होता है। सारी जनता उसके इस अकर्तव्य को देखकर क्या कहेगी, उसे यह भी सुध-बुध नहीं रहती। बस,''मैं भी कुछ हूँ, मेरी ओर भी लोगों का कुछ ध्यान होना चाहिए'' – इस बात की धुन उसे सवार रहती है। अत: अहम्....अहम् (मैं...मैं) रूपी मानसिक खाँसी वाले अहंकारी मनुष्य में धीरज और सहनशीलता रूपी विटामिन (न्रैंूस्हे) की कमी होती है और वह अपनी बात जतलाये बिना दम नहीं लेता गोया उसे मानसिक दम की भी बीमारी साथ लगी होती है क्योंकि उसमें सहन करने का दम नहीं होता।

तो क्या अहंकार रूपी साँप से काटे हुए मनुष्य में हर्ष हो सकता है? जैसे शराब पिया हुआ और साँप के उंक से डसा हुआ बंदर कूदता, छलाँगता और ऊधम मचाता है, वैसे ही अहंकार की शराब पीये हुए अथवा अभिमान के डंक से डसे हुए व्यक्ति का हाल होता है। वह भी उछल-उछल कर, परेशान होकर लोगों के गले पड़ता है। शीतलता और मधुरता धारण करने की बात भी यदि कोई उससे कहे तो उससे भी बिगड़ कर कहता है – ''तुम आए हो मुझे उपदेश देने!''

अत: आपको मालूम रहे कि जिस मनुष्य में ईश्वरीय ज्ञान की ठीक धारणा होगी और जो सच्चा राजयोगी बना होगा और दिव्य गुणों की धारणा पर जिस मनुष्य का पूरा और ठीक ध्यान होगा, उसमें नम्रता और निरहंकारिता तथा विनय और सादगी अवश्य होगी। अपनी शान दिखाने, दिखावा करने, लोगों का ध्यान अपनी ओर खिंचवाने और रोब डालने की आदत उसमें नहीं होगी।

जिज्ञासु – बहन जी, अहंकार का तो नाम सुनकर ही मन में घृणा आती है। दूसरा कोई व्यक्ति अहंकार करता है तो वह भी हमारे मन को भाता नहीं, खटकता है। परन्तु, फिर भी न जाने हमारे मन में अहंकार कैसे घुस आता है? इस ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने से पहले मैंने कई-एक धर्म-सम्मेलनों इत्यादि में शंकराचार्यों तथा इन सन्तों को इस बात पर बिगड़ते देखा और सुना है कि एक शंकराचार्य का सिंहासन दूसरे के सिंहासन से एक-दो इंच नीचा क्यों रखा गया अथवा एक को भाषण करने का अवसर दूसरे से पहले क्यों दिया गया! अब यह तो मैं जानता हूँ कि उन लोगों में मिथ्या ज्ञान-अभिमान होता है क्योंकि वे स्वयं को ही 'शिव', 'ब्रह्म' अथवा 'जगद्गुरु' मानते तथा अपने नाम के साथ लम्बी-चौड़ी उपाधियाँ धारण करते हैं तथा महिमा सुनने के स्वभाव वाले होते हैं जबकि यहाँ जो मैंने ईश्वरीय ज्ञान

सुना है, यह मनुष्य को नम्रता और निरहंकारिता आदि की शिक्षा देता है। परन्तु फिर भी मैं समझता हूँ कि ज्ञान और ध्यान तथा योग और ईश्वरीय भोग ऐसी चीज़ें हैं कि जिन्हें धारण करने वाले को अहंकार आने की सम्भावना है।

इस ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने वाले को ज्ञान-अभिमान कैसे नहीं हो सकता

ब्रह्माकुमारी – तभी तो मैंने कहा कि यदि ज्ञान की ठीक धारणा होगी और यदि वह सच्चा राजयोगी बना होगा तो उसमें नम्रता होगी। मैंने 'ठीक' और 'सच्चा' शब्द का इसलिए ही तो प्रयोग किया था। वास्तव में यह ज्ञान और योग तो मनुष्य को बहुत ही निरहंकारी और नम्रचित्त बनाने वाले हैं। जबकि ये हैं ही ईश्वरीय देन तो प्राप्त करने वाली हम आत्माओं को अभिमान क्यों होना चाहिए? हम लोग कोई 'शास्त्री', व्याकरणाचार्य, न्यायाचार्य आदि-आदि की डिग्रियाँ (ीो) तो लेते नहीं हैं, न ही हम अनेकानेक शास्त्रों के विद्वान होने या उनको कण्ठ करके 'शास्त्रार्थ महारथी' होने का दावा करते हैं, बल्कि हम तो यही जानते और मानते हैं कि पढ़े हुए होने पर भी हम अनपढ़ थे, क्योंकि भले ही शास्त्रिक ज्ञान हमने पढ़ा या सुना था, तो भी हममें यह सर्वोच्च ईश्वरीय ज्ञान नहीं था। यह तो अब परमपिता परमात्मा शिव ने ही हमें प्रजापिता ब्रह्मा के द्वारा कल्याण के लिए हमें दिया है। तो जोकि हमारी अपनी चीज़ ही नहीं है बल्कि प्रभु की कृपा से हमें दान के रूप में मिली है, उसका हम अभिमान क्यों करेंगेक? अभिमान तो अपनी चीज़ का हो सकता है, दूसरे से ली हुई चीज़ का अभिमान थोड़े ही होता है? दूसरे की दी हुई चीज़ पर अभिमान करना तो बचपन अथवा बेबी-जैसी (ँब) बुद्धि वाले का काम है। हमारी तो यही धारणा है कि हम कुछ भी नहीं जानते , हम सोये हुओं को उस रहमदिल परमात्मा ने आकर जगाया है और अभी भी हम सम्पूर्ण नहीं बने हैं, इसलिए हमें परमपिता परमात्मा की श्रेष्ठ मत पर चलना है, वर्ना सम्भावना है कि हम अल्पज्ञ आत्माएं फिर कोई गलती कर बैठें।

फिर, ज्ञान का अभिप्राय ही यह जानना है कि – मैं एक ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ, मैं परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ, मैं देह नहीं हूँ। 'योग' का भाव भी इसी स्मृति में रहना है कि मैं उस शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, निर्विकार, निराकार, ज्योति-स्वरूप परमात्मा की सन्तान, एक चेतन ज्योति-बिन्दु हूँ। अत: ज्ञान और योग से अहंकार हो ही नहीं सकता क्योंकि अहंकार देह-अभिमान (ँद्ब-ण्दहेम्दल्हो) अर्थात् स्वयं को देह मानने से होता है। इसी प्रकार, 'ध्यान', अथवा दिव्य-दृष्टि द्वारा साक्षात्कार भी हमें यही शिक्षा देता है कि हम दिव्य गुणों की धारणा करके सूक्ष्म फरिश्तों के समान पवित्र बनें, 'ईश्वरीय भोग' भी हमें यही प्रेरणा देता है कि हम सब-कुछ प्रभु-अर्पण करके केवल प्रसाद के रूप में ग्रहण अथवा धारण करें।

अत: यदि हम ज्ञान की ठीक धारणा करें, अर्थात् स्वयं को एक ज्योति-बिन्दु आत्मा निश्चय करें, सही माने में राजयोगी बनें और ध्यान को भी ठीक रीति से समझें तो हमारे जीवन में नम्रता ही आयेगी

क्योंकि जबकि हम हैं ही एक बिन्दु, तब हमें अहंकार किस बात का? जबकि हमें बना ही फरिश्ता है तो फिर ये अहंकार रूपी भूत हमारे निकट क्यों? जबकि हम प्रभु के समर्पण हैं और हमारे पास जो कुछ है, वह ईश्वरीय भोग-रूप अथवा प्रसाद रूप है तो हमारे पास अभिमान की चीज़ ही कौन-सी रही? अत: जिन्हें केवल ऊपरी ज्ञान है और जो योग-भ्रष्ट अर्थात् आत्म-विस्मृति में रहते हैं अर्थात् जो देह अभिमान में रहते हैं, उन पर ही अहंकार का वार होता है।

अहंकार का कारण

जिज्ञासु – बहन जी, यह बात तो समझ में आ गई है कि जिसमें ज्ञान की नींव ठीक होगी और जो सच्चा राजयोगी होगा, वह नम्र-चित्त होगा ही, परन्तु आपने यह जो कहा है कि अहंकार का कारण तो देह-अभिमान है, इसे मैं अभी तक भी पूरी तरह समझा क्योंकि देह के आधार पर अहंकार का तो केवल यही रूप हो सकता है कि – ''फलाँ व्यक्ति से आयु में बड़ा हूँ, फलाँ का पिता या पति या कारण दूसरों को मेरी बात अवश्य ही माननी चाहिए।'' परन्तु मैं तो देखता हूँ कि देह की आयु, सम्बन्ध, स्वास्थ्य या सौन्दर्य के अभिमान के अतिरिक्त धन का अभिमान, शान अथवा पद (इ्देग्दह) का अभिमान, कुल, जाति या प्रदेश का भी अभिमान कोई कम नहीं है। अत: कृपया आप मुझे समझा-इए कि ये सभी प्रकार के अहंकार देह-अभिमान (मैं शरीर हूँ, इस निश्चय) पर आधारित कैसे हैं?

ब्रह्माकुमारी – कुल, जाति और देश का अहंकार भी तो देह-अभिमान पर आधारित है। आत्मा का कुल तो एक 'ईश्वरीय कुल' है और इस नाते से तो सभी आत्माएं भाई-भाई हैं। सभी आत्माओं का देश भी एक परमधाम, परलोक अथवा ब्रह्मलोक और उनकी जाति भी एक निराकारी जाति है अथवा ज्योति-बिन्दु जाति है। परन्तु स्वयं को 'देह' निश्चय करने के कारण ही किसी को यह अहंकार है कि मेरा दैहिक जन्म उच्च है क्योंकि मैं एक उच्च ज़मीनदार कुल का हूँ, मैं वीरता में प्रसिद्ध राजपूताने अथवा राजस्थान प्रदेश का हूँ, मेरी जात (जाति) ठाकुर है, आदि-आदि। यदि उसे ईश्वरीय कुल की, ज्योति-बिन्दु जाति की, परमधाम रूपी शान्ति-देश की तथा आत्मिक नाते की स्मृति रहे तो उसे इस छोटे-से देश-कुल-जाति आदि का मिथ्या अहंकार हो ही नहीं सकता।

इसी प्रकार, धन और पोज़ीशन (इ्देग्दह) का अथवा मान और शान का सम्बन्ध भी देह से ही है। देह रूपी वस्त्र धारण करके पार्ट में ही कोई बड़ा वकील, कोई डाक्टर या कोई नेता है, परन्तु आत्मा की दृष्टि से तो सभी भाई-भाई हैं। उस नाते में पोज़ीशन का क्या अभिमान? धन का सम्बन्ध भी देह से ही है। देहान्त हो जाने के बाद मनुष्य धन का मालिक थोड़े ही होता है? जब आत्मा परमधाम में थी तो उसके पास कौन-सा धन था? परमधाम में तो सभी आत्माएं 'बिन्दु रूप' ही होती हैं, वहाँ धन का क्या काम और क्या नाम? देह में आने के बाद ही धन-सम्पत्ति की आवश्यकता या आसक्ति होती है। अत: जो मनुष्य अब स्वयं को एक 'ज्योति-बिन्दु आत्मा' निश्चय करने वाला और धन-जन में

आसक्ति को दोड़कर वापस परमधाम लौटने के संकल्प वाला होगा – उसमें धन, पोज़ीशन आदि का भी अभिमान नहीं होगा।

जिज्ञासु – अब यह बात तो मेरी समझ में आ गई है। सारा रौला तो देह-अभिमान का है। जब मनुष्य स्वयं को 'आत्मा' की बजाय 'देह' निश्चय करने की भूल करता है तभी उसमें आसुरी गुण प्रवेश करने लगते हैं और जब वह स्वयं को शिववंशी, परमधाम-निवासी, ज्योति-बिन्दु आत्मा निश्चय करता है तो उसकी सारी चाल-चलन ही बदल जाती है और उसमें दिव्य गुणों का सार आने लग जाता है। परन्तु, बहन जी, हम लोग, जोकि गृहस्थी हैं और कोई बिज़नेस (ँल्ग्हो), व्यापार या सर्विस (नौकरी) करते हैं, हमें प्रैक्टिकल जीवन में कठिनाइयाँ विशेष तौर पर आती हैं। यदि आप आज्ञा दें तो पूछूँ?

ब्रह्माकुमारी – हाँ, पूछिये। जब तक आप अपने प्रैक्टिकल जीवन में आने वाली कठिनाइयों के निवा-रण के लिए मार्ग प्रदर्शना नहीं लेंगे तब तक मन की विक्षेपता मिटेगी कैसे और संस्कारों में परिवत्रन आयेगा कैसे?

क्या दूसरों पर रोब डालना या पोज़ीशन दिखाना ठीक है?

जिज्ञासु – बात यह है कि आजकल ज़माना ऐसा है कि कुछ रोब से चलना पड़ता है। यदि हम बच्चों पर, अपनी पत्नी पर, मोहल्ले वालों पर, दफ्तर में अपने नीचे कार्य करने वालों पर दुकानों में अपने कारिन्दों पर रोब न रखें तो गाड़ी चलती नहीं है, बल्कि सब सिर-ज़ोर हो जाते हैं, गुस्ताखी करते हैं और हमारे ऊपर चढ़ाई करने आते हैं। इसलिए, उन्हें थोड़ा दबाकर रखना पड़ता है और उसके लिए थोड़ा भभका, दबदबा, पोज़ीशन या रोब से काम लेना पड़ता है। अगर हम निरी नम्रता से ही चलते रहें तो सब लोग हमें दब्बू या कमज़ोर मानने लगेंगे। तो क्या हमारा यह थोड़ा-सा अहंकार या रोब भी वर्जित है? कया यह आसुरी लक्षण है?

दूसरे, ऐसे भी होता है कि घर में हमसे जो बड़े हैं या दफ्तर में हमसे जो ऊपर हैं, वे हम पर रोब डालते हैं। उनका यह रोब हमें अच्छा नहीं लगता। शायद वह हमारे अहंकार को ठेस पहुँचाते हैं। हम भी तो अपने आपको बहुत-कुछ समझते हैं; तो जो हमारे साथ रोब से व्यवहार करता है, उसके प्रति हमारे मन में घृणा पैदा होती है। जब कोई हम पर रोब डालताहै तब हमसे एकदम नम्र नहीं हुआ जाता। तो हमें क्या करना चाहिए?

ब्रह्माकुमारी – जबकि आप स्वयं दूसरों का रोब से व्यवहार बर्दाश्त नहीं कर सकते अथवा जबकि स्वयं आपको दूसरों का अहंकार-युक्त व्यवहार अच्छा नहीं लगता तो इससे भी आप समझ सकते हैं कि दूसरों को भी आपका रोब से बोलना या अहंकार से अपना दबदबा ज़माना अच्छा नहीं लगता होगा। उनको दबाने या उन पर अपनी पोज़ीशन का सिक्का ज़माने का जो आपका तरीका है, उन्हें भी तो वह अच्छा नहीं लगता होगा? तब आप भला दूसरों से रोब या पोज़ीशन के नशे से, या उन पर

दबाव डालने के लक्ष्य से व्यवहार क्यों करते हैं? एक ओर तो आप कहते हैं कि इसके बिना गाड़ी नहीं चल सकती और दूसरी ओर आप ही कहते हैं कि दूसरे का रोब मुझे स्वयं अच्छा नहीं लगता। आखिर आप दोनों में से एक बात तो कहिए – या तो रोब को अच्छा मानिये या बुरा?

वास्तव में आप देखेंगे कि ऐसे किसी को दबाने से आजकल के ज़माने में कोई किसी से नहीं दबता बल्कि नाजायज़ दबाने पर लोग बड़क उठते हैं और दबाने वाले का रोब या सम्मान बिल्कुल ही जाता रहता है। आजकल इसलिए ही तो मज़दूरों या कर्मचारियों ने संगठन (ळहग्दहे) बना रखा है। कोई उनसे थोड़ा अकड़ कर व्यवहार करे तो एक-दो बार ही उन्हें दबा लेगा, तीसरी बार तो उनकी यूनियन उस व्यक्ति का घेराब कर लेती, उसका बुत बना कर जलाती और उसके विरुद्ध एक आन्दोलन खड़ा कर देती है। इसी प्रकार, घर में भी यदि कोई व्यक्ति अपने से छोटों पर अधिक दबाव डालता है या सदा उनसे रोब से काम लेता है तो आखिर एक दिन वे उसके सामने बोल उठते हैं और रोब डालने वाले व्यक्ति के प्रति उनके मन में स्नेह या सम्मान की भावना नहीं रहती बल्कि वे उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। अत: यह समझना ग़लत है कि रोब के बिना गाड़ी नहीं चलती या पोज़ीशन का भभका जमाए बिना आज लोग मानते नहीं हैं, बल्कि सही बात तो यह है कि जो दूसरों के आगे झुकता है, लोग भी उसी के आगे झुकते हैं और जो अकड़ कर रहता है, लोग उसके नीचे (ळही) नहीं रहना चाहते। इसका एक स्थूल उदाहरण यह है कि जो वृक्ष झुका हुआ होता है और झुके हुए होने के कारण छाँव देता है उसके नीचे (ळही) ही बड़े-बड़े धनी-मानी भी और गरीब मज़दूर भी आकर बैठना चाहते हैं, परन्तु जो वृक्ष एकदम अकड़ कर ऊंचा खड़ा रहता है, जैसे कि खजूर या बाँस का वृक्ष, वे किसी को भी छाँव नहीं देते और कोई भी उनके नीचे बैठना पसन्द नहीं करता।

जिज्ञासु – बहन जी, यह आपने बहुत अच्छा कहा है कि – ''जो दूसरों के आगे झुकता है, दूसरे उसके आगे झुकते हैं।'' इसको थोड़ा और स्पष्ट कीजिये। यह मैं मानता हूँ कि रोब डालने वाला और अहं-कार-युक्त व्यवहार करने वाला व्यक्ति किसी को भी अच्छा नहीं लगता। परन्तु क्या करना चाहिए; ज़रा यह भी बताइये?

जो दूसरों के आगे झुकता है, दूसरे उसके आगे झुकते हैं – कैसे?

ब्रह्माकुमारी – यही तो मैं बता रही थी। आप देखिए, यदि शिष्टाचार के नाते आपसे छोटी आयु का कोई मित्र या सम्बन्धी,उ आपसे मिलते समय आपके आगे झुकता है, मानो झुक कर चरण स्पर्श करने लगता है, तो आप क्या करते हैं? आप झट से झुक कर उसका हाथ पकड़ लेते हैं अथवा झुक कर अपने दोनों हाथों से उसे थामकर उठाने लगते हैं। यदि वह छोटा व्यक्ति आपके सामने न झुकता तो क्या आप इस प्रकार उसके आगे झुकते? तो स्पष्ट है कि दूसरों के आगे झुकना ही गोया उनको अपने आगे झुकाना है। जो अकड़ कर रहता है, उसके आगे यदि कोई रस्म के तौर पर झुक भी जाए तो भी

मन से कोई नहीं झुकता।

आज लोग मन्दिरों में जाकर श्रीलक्ष्मी और श्रीनारायण के आगे बार-बार झुकते हैं। वे जहाँ भी उनका कोई चित्र या उनकी कोई प्रतिमा देखते हैं, वहाँ ही वे उनके (लक्ष्मी-नारायण के) आगे नत-मस्तक हो जाते हैं, क्यों? एक जन्म ही नहीं बल्कि अनेक जन्म भक्त लोग प्रतिदिन कई बार देवी-देवताओं के आगे झुकते हैं!! इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि ये देवी-देवता अपने पूर्व जन्म में, अर्थात् पुरुषोत्तम संगमयुग में अपने पुरुषार्थी जीवन में, एक बार झुके थे जिसके फलस्वरूप आज तक करोड़ों लोग जन्म-जन्म, हर दिन उनके आगे बार-बार झुकते और उन्हें प्रणाम करते हैं। इन देवी-देवताओं ने संगमयुगी एक जीवन में नम्रता का गुण अपनाया था जिसका उनको इतना उच्च फल मिला कि वे 'वन्दनीय' कहलाते हैं और भक्त लोग उनके चरणों को दोनों हाथों से पकड़-पकड़ कर अपना मस्तक उस पर रख कर अपने को धन्य मानते हैं।

दिव्य जीवन की रीति

अत: दूसरों को डराना, धमकाना या अपनी पोज़ीशन से उनको दबाना दिव्य जीवन की रीति नहीं है बल्कि जो व्यक्ति योग्य, कार्य-कुशल, परिश्रमी और उद्यमी होते हुए भी दूसरों के आगे झुकता है, लोग उसके आगे स्वत: ही झुकते हैं। हमारा कर्तव्य या लक्ष्य किसी को झुकाना नहीं है बल्कि योग्य बनकर, अहंकार को छोड़ कर कर्तव्य करना है और ऐसा करते हुए भी स्वयं झुक कर रहना है। जब हम ऐसा करेंगे तो हमसे नीचे कार्य करने वाले देखेंगे कि यह व्यक्ति इतना योग्य और कार्य-कुशल होते हुए भी इतना निरहंकारी है कि हम छोटों-मोटों से मिल-जुल जाता है और हमारे आगे भी झुकता है। वे अपने मन में बोलेंगे – ''अरे यह तो इसकी महानता है, वर्ना हम तो इसके आगे कुछ भी नहीं हैं! ये हमसे स्नेह और सहानुभूति रखता है और हमें हमेशा अपनी छाती से लगाए रखता है, कभी हमें झुकने ही नहीं देता!! अहो, यह तो बहत महान है, यह तो मनुष्य चोले में कोई फरिश्ता या देवता-जैसा है; इसके लिए तो हम जान भी दे देंगे!'' तो हमारा जीवन वास्तव में ऐसा होना चाहिए कि हमारे प्यार के कारण लोग काम करें न कि अहंकार के कारण। हम स्वयं योग्य बनें, स्वयं अपने हाथों से कार्य करें, दूसरे को कार्य सिखायें, उनके कार्य में मददगार बन जाया करें, फिर देखें कि क्या रोब डालने या पोज़ीशन जतलाने की ज़रूरत रहती है? बल्कि आप देखेंगे कि यदि आप आयु और पोज़ीशन में किसी व्यक्ति से छोटे हैं, परन्तु योग्यता और कार्य-क्षमता (िंग्गहम्ब) में उससे बड़ें हुए भी उससे स्नेह तथा सम्मान से व्यवहार करते हैं तो वह बड़ा व्यक्ति भी आपसे नम्रतापूर्वक व्यवहार करेगा। यदि अहंकार के वश होकर वह कभी कुछ उल्टा अर्थात् न्याय विरुद्ध आपसे बोल भी लेगा तो भी बाद में उसके मन में यह संकल्प उठेगा कि ''ये इतना योग्य, समझदार और अच्छा कार्य-कर्ता है, मैंने उससे जिस ढंग से बात की है, वह ग़लत है।''

जिज्ञासु – जी हाँ, बहन जी, आपने शिव बाबा द्वारा बताई हुई ये जो बातें सुनाई हैं, ये सचमुच मनुष्य को नम्रता के गुण का वास्तविक महत्व जतलाने वाली हैं। परन्तु यह तो बतलाइये कि हम किन ज्ञान-बिन्दुओं को बुद्धि में धारण करें कि हमारे स्वभाव में नम्रता आ जाए?

अहंकार थोड़ा भी क्यों न हो, अकल्याणकारी है

ब्रह्माकुमारी – हाँ, ज्ञान के वह सूत्र तो मैं बताऊंगी जिन्हें बुद्धि में धारण करने से मनुष्य विनम्र और निरहंकारी बनता है, परन्तु पहले आप अपने मन में यह धारणा तो पक्की कीजिए कि अहंकार थोड़ा भी क्यों न हो, मनुष्य को गिरावट, झगड़े और तबाही की ओर ले जाने वाला है।

आप देखिये, यदि किसी संन्यासी की बोलचाल में हम अहंकार देखते हैं तो भी हम यही कहते हैं कि संन्यासी होकर भी यदि इसने अभिमान का त्याग नहीं कियातो इसने क्या पाया है? आप स्वयं ही आज बता रहे थे कि शंकराचार्यों में या सन्तों में सिंहासन के ऊंचा-नीचा होने परभी जो कलह-क्लेश हो जाता हे, वह भी सारी जनता को बुरा लगता है। पुनश्च, यह भी तो आप ही कह रहे हैं कि यदि बड़े लोग छोटों को दबाते हैं तथा उनसे अहंकार के वश व्यवहार करते हैं तो छोटों के मन में उनके प्रति इज्ज़त की भावना नहीं रहती बल्कि घृणा का भाव उत्पन्न होता है। तो इसलिए आप यह पक्का निर्णय कीजिए कि अब अहंकार को बिल्कुल अपने पास नहीं आने देंगे।

जो मनुष्य निरहंकारी तथा नम्र होकर व्यवहार करता है, उसके मन में कभी भी यह दु:ख नहीं होता कि – ''हाय, मैंने दूसरे के साथ ठीक तरह से बात नहीं की।'' उसे कभी यह भय नहीं रहता कि मैंने अमुक व्यक्ति से जो बात की है, उसका क्या परिणाम होगा? इसके विपरीत, जो व्यक्ति अहंकार से व्यवहार करता है उसके मन में, बाद में यह संकल्प उसे दु:खी करता है कि पता नहीं मेरी बात का क्या परिणाम निकलेगा? तो इस प्रकार, जब आप जानेंगे कि अभिमानी का मान नहीं रहता, उसके मन में खटका भी रहता है और अभिमानी के घर का नाश हो जात है (क्योंकि घर वालों में अभिमान के कारण परस्पर स्नेह नहीं रहता और तंग आकर उसे छोड़ जाते हैं), तो आप निरहंकारिता रूपी गुण को अपनाने का पूरा यत्न करेंगे।

जिज्ञासु – बहन जी, यह तो मैं अब मान ही गया हूँ कि अहंकार बहुत ही दु:खदायक दुर्गुण है। पहले मैं यह मानता था कि हम संसारी लोगों को थोड़ा मान-शान से या पोज़ीशन और रोब से चलना चाहिए, परन्तु अब तो मैं निश्चित रूप से मानता हूँ कि अहंकार मनुष्य को गिरावट और नाश की ओर ले जाने वाला है।

हमें वास्तव में किस पोज़ीशन और मान-शान में रहना चाहिए?

ब्रह्माकुमारी – मैं पोज़ीशन और मान-शान को छोड़ने के लिए थोड़े ही कहती हूँ? मैं तो कहती हूँ कि हम आत्माओं की जो वास्तिवक पोज़ीशन है, हमें उसमें रहना चाहिए। हमारी वास्तविक पोज़ीशन तो

यह है कि हम त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिवान परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं। उस पोज़ीशन को याद रखते हुए हमें अपनी लौकिक पोज़ीशन में भी रहना है, परन्तु उस ड्रामा को एक पार्ट समझ कर निभाना है, उस पोज़ीशन के अभिमान में नहीं आना है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि एक ऐक्टर को स्टेज पर राजा का पार्ट बजाने के लिए कहा गया। तो वह मंच पर साक्षी होकर राजा का पार्ट बजाएगा परनतु वह इस बात को भी सचेत (ण्दहेम्दल्त्ब) या अर्द्ध-अचेत (एल्ं-म्दहेम्दल्त्ब) रूप से याद तो रखेगा ही कि – ''मैं वास्तव में राजा हूँ नहीं; मैं तो वास्तव में फलाँ व्यक्ति हूँ, राजा का तो मैं कुछ समय के लिए पार्ट ही बजा रहा हूँ।'' यदि वह सचमुच अपने को राजा ही मानने लगे और आगे-पीछे भी सभी से वैसा व्यवहार करने लगे तो उसको राजा कौन मानेगा ? तब तो उसके बारे में सब सोचने लगेंगे कि आखिर इसको हुआ क्या है ? इसी प्रकार, हम वास्तव में तो परमधाम से आई हुई सब आत्माएं ही हैं, शरीर रूपी वेश-भूषा धारण करके कोई वकील का, कोई डॉक्टर का, कोई न्यायाधीश का, सब अपना-अपना पार्ट बजा रही हैं परन्तु हमारे मन में यह ध्यान तो रहना ही चाहिए कि वास्तव में हम इस पार्ट से न्यारे कौन हैं (आत्माएं हैं)। उस निराकारी आत्मिक स्थिति या स्मृति में जब हम रहेंगे, तभी हम निरहंकारी भी रहेंगे। निराकारी आत्मिक स्थिति या स्मृति में नहीं रहेंगे तो निर-हंकारी स्थिति में भी नहीं रह सकेंगे।

जिज्ञासु– बहन जी, पार्ट बजाते हुए भी अपने वास्तविक निराकारी, पवित्र एवं शान्त स्थिति में स्थत रहना, यह तो बहुत अच्छी विधि आपने बताई है। परन्तु, मनुष्य सारा दिन तो धन कमाने और सम्भा-लने में लगारहता है। तो जिसके पास काफी धन है या जो अधिक धन कमाता है, उसे थोड़ा इस बात का नशा चढ़ ही जाता है कि ''मैं धनवान हूँ।'' इसी प्रकार, आजकल लोग जब एक-दूसरे को बुलाते हैं, तो – 'ठाकुर जी', 'शर्मा जी', 'चटर्जी साहिब', कृपलानी साहिब', 'मिस्टर मेनन' – इस प्रकार सम्बोधित करते हैं। एक व्यक्ति अपने किसी मित्र का दूसरे को परिचय कराता है तो भी वह कहता है – ''यह लैंड लार्ड (ल्ंह्-थ्द्े; मकान मालिक) हैं, इनके पिता गवर्नर अथवा यह बहुत प्रसिद्ध राजनीतिक नेता हैं अथवा लेखक हैं, आदि-आदि। तो जिस संसार में ऐसे रीति-रिवाज़ हों, वहाँ मनुष्य को धन का अहंकार, कुल का अहंकार, मान-शान का अहंकार थोड़ा-बहुत आ ही जाता है। तो ऐसी कुछ बातें बताइये जिससे कि हम ऐसे अवसरों पर तथा इस समाज में बर्तते हुए भी निरहंकारी स्थिति में स्थित हो सकें ?

धन, कुल, पोज़ीशन आदि का अहंकार कैसे छूटे ?

ब्रह्माकुमारी – यदि ज्ञानी तथा योगाभ्यासी मनुष्य भी ऐसे अवसरों तथा ऐसे समाज में अहंकारी हो जायें तो फिर ज्ञान तथा योग से उसने लाभ क्या उठाया ? फिर ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर ही क्या रहा ? जबकि ज्ञानवान् मनुष्य जानता है कि इस कलियुगी संसार में धन अथवा सम्पत्ति अस्थिर है, यह

सदा मनुष्य के साथ नहीं रहती तो मनुष्य को अहंकार किस बात का?
क्या आप नहीं देखते कि आज एक व्यक्ति धनाढ्य होता है, कुल उसकी दुकान को आग लग जाती है और वह फकीर बन जाता है। आज कोई लाखोंपति है, कल उसका दिवाला निकल जाता है। आज किसी के पास सम्पत्ति है, कल उसकी मृत्यु हो जाती है और उसका धन धरा ही रह जाता है, अथवा उसकी दुर्घटना हो जाती है और उसके पास धन होते हुए भी वह दु:खी होता है। तो धन का अहंकार क्यों? मनुष्य साक्षी होकर धन का प्रयोग तथा सदुपयोग करे, परन्तु अहंकार तो तब करे जब धन उससे कभी छूटता ही न हो या उसने मरना ही न हो। और फिर, अब जबकि मनुष्य को यह ज्ञान मिल रहा है कि अब इस कलियुगी सृष्टि में ऐसा भयानक समय आने वाला है और अब महाविनाश होने वाला है कि इस धन की यह हालत होनी है –
किसी की दबी रही धूल में, किसी की राजा खाय।
किसी की चोट लूट गये, किसी की आग जलाय।।
तो फिर अहंकार का क्या परिणाम होगा? भस्मसात होने वाली वस्तु का अभिमान तो निरी अज्ञानता ही है। इसके अतिरिक्त, सतयुग तथा त्रेतायुग में हमारे पास जो अतुल-अनगिनत धनराशि थी, उसकी तुलना में आजकल का धन क्या चीज़ है? आज की तो शाही भी वास्तव में फकीरी है। उस सतयुगी स्टेट्स (ऐ्लै) से मुकाबला किया जाए तब तो हम उस समय के दास-दासियों के बराबर भी नहीं हैं! यही बात कुल के बारे में कही जा सकती है। सतयुगी सूर्यवंशी देवता कुल या त्रेतायुगी चन्द्रवंशी कुल की तुलना में आजकल के हमारे कुल, चाहे वे कितने ही उच्च क्यों न हों, शुद्रकुल हैं क्योंकि सभी में काम, क्रोधादि विकार भरे हुए हैं और सब पतित हैं! संगमयुगी सच्चे ब्राह्मण-कुल की तुलना में भी आज के कुल की क्या गणना है? ईश्वरीय कुल से तुलना की तो बात ही अलग है। अत: ज्ञानवान् मनुष्य को तो नम्र होना चाहिए कि सतयुगी देव कुल की तुलना में तो मैं विकारी कुल का था, अब मैं पवित्र बन रहा हूं। इसी तरह, सतयुगी दो-ताजधारी (अ्दल्ंत-भ्दैहा्) देवी-देवताओं की तुलना में आज के मनुष्य की पोज़ीशन या उसकी मान-शान क्या है? कहाँ वह देवता, कहाँ आज दैत्य! कहाँ वह दो-ताजधारी और पूज्य, कहाँ आज के कंगाल और पुजारी!! ये तुलना तो हमें नम्र बनने की शिक्षा देती है और हमें यही वास्तविक मान-शान प्राप्त करने के लिए देवता बनने की भिक्षा देती है।
फिर, आप यह सोचिए कि यदि किसी को आज मान और शान मिलता है और वह उसे स्वीकार कर लेता हे, अर्थात् उसके नशे तथा अहंकार में जाता है तो उसके ही बारे में थोड़े ही दिनों में लोग कहने लगेंगे कि – ''साहिब, अब तो इसमें अभिमान आ गया है। अब इनके जीवन में गिरावट शुरू हो गई है।'' इसके विपरीत, यदि किसी को लोग मान और शान दें परन्तु वह उसे स्वीकार न करे, तो उससे लोग और भी अधिक स्नेह करेंगे और उसके बारे में सोचेंगे कि – ''यह व्यक्ति महान है। इसे लोग

इतना मान देते हैं परन्तु फिर भी इसमें अभिमान नहीं है।'' तो बताइये कि अहंकारी अच्छा या निरहं-कारी और नम्रचित्त अच्छा ?

जिज्ञासु – बहन जी, नम्रता तो सब प्रकार से सुखदायक तथा महान बनाने वाला गुण है ही। बहन जी, हम और किन बातों को याद रखें कि हममें नम्रता की पक्की धारणा हो जाए ? मैंने पहले भी आपसे यह प्रश्न किया था।

निरहंकारिता और नम्रता की धारणा कैसे हो ?

ब्रह्माकुमारी – जी हाँ। अब इसी बात को स्पष्ट करना है। एक तो सदा यह याद रखो कि ''मैं विश्व का सेवक (ैदे् र्ईन्हू) हूँ अथवा ईश्वरीय सेवा में (ध्ह उद्-ईूंपेल्ब ीेन्म) हूँ। जो सबके सेवक होते हें, उन्हें किस बात का अभिमान ? उनका तो कर्म-धर्म ही दूसरों की ऊंची-नीची बातें सुनते हुए भी उनकी सेवा करना होता है और यह जो सेवा हम अब करते हैं, यह तो है ही दूसरों में दिव्य गुण भरने की सेवा। ऐसी सेवा करने वाले मनुष्य को स्वयं में भी तो दिव्य गुण लाने ही पड़ेंगे।

परमपिता परमात्मा शिव जोकि त्रिलोकीनाथ, त्रिकालदर्शी, ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, पतित-पावन और सर्वशक्तिवान हैं, आज स्वयं वह भी प्रजापिता ब्रह्मा के मुख द्वारा कहते हैं कि – ''मैं विश्व की सेवा पर उपस्थित हूँ, मैं आप बच्चों का आज्ञाकारी सेवक (श्दे दंग्हूर्ेन्हू) हूँ, क्योंकि आपने मुझे बुलाया था कि 'हे पतित-पावन आओ और आकर हमें पतित से पावन तथा दु:खी से सुखी बनाने की सेवा करो तो मैं उसी सेवा के लिए आया हूँ।'' इसी प्रकार, प्रजापिता ब्रह्मा भी कहते हैं कि – ''मैं सेवा में उपस्थित हूँ। मैं बैगर प्रिंस (ुिं ज्ग्हम) हूँ'', तो हम उनकी तुलना में क्या हैं ? हमें तो बहुत ही नम्र-चित्त और विनय-युक्त होना चाहिए।

मैं विश्व का सेवक हूँ

इसके अतिरिक्त, हमें यह सोचना चाहिए कि -५ ''हम तो सतयुगी सृष्टि की स्थापना के कार्य में कल्याणकारी परमपिता के साथ निमित्त हैं। जो किसी कार्य में स्वयं को निमित्त मानता है, उसे तो लाख बातें सुननी और सहन करनी ही पड़ती हैं। उसे तो बहुत ही मधुरता से और झुक कर व्यवहार करना पड़ता है ताकि कोई उससे नाराज़ न हो जाए। वह ख्याल रखता है कि मेरे व्यवहार के कारण से कोई आत्मा ईश्वर से विमुख न हो जाए। मैं कल्याण की बजाए किसी के अकल्याण का निमित्त न बन जाऊं।'' अत: यदि आपको यह याद रहे कि मैं तो दूसरों के कल्याण के ईश्वरीय कार्य में निमित्त हूँ तो भी आप में नम्रता का गुण आयेगा ही।

जिज्ञासु – बहन जी, ये सभी बातें श्रेष्ठ हैं। मैं इस गुण को अवश्य धारण करूँगा। निश्चय ही यह गुण मकनुष्य को बहुत ऊंचा उठाता है, परन्तु एक छोटा-सा प्रश्न बाकी है। प्रश्न यह है कि कई बार जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं कि कोई कार्य किया तो हमने है, या यों कह दीजिए कि उसमें हमने काफी

सहयोग दिया हे, परन्तु एक दूसरा व्यक्ति अपनी ही बड़ाई करते हुए सबके सामने अपनी डींग मारता है कि – ''मैंने ऐसा किया, वैसा किया, यह मैं न करता तो वह न होता'' आदि। वह हमारे सहयोग का कुछ वर्णन ही नहीं करता और यदि करता भी है तो ऐसे ढंग से कि वह उस कार्य का मुख्य श्रेष्ठ स्वयं लेता चाहता है। या तो वह हमारे कार्य एवं सहयोग की सराहना करने की बजाय उसमें त्रुटियाँ निकालता है। तब हमें उसकी इस कुटनीति से खार आ जाती है। और, मन करता है कि हमने जो सहयोग दिया है, हम स्वयं ही उसका अधिक नहीं तो ठीक-ठीक वर्णन तो अवश्य कर डालें और इस मनुष्य को मज़ा चखाएँ! क्या यह आत्म-श्लाघा (एर्ट-ज्ञैग) है? क्या इसकी गणना भी अहंकार में होगी? हमें यह जो संकल्प आ जाता है कि यह आदमी हमें नीचे किये जाता है और स्वयं को ऊपर किये जाता है, हम इस संकल्प का निवारण कैसे करें, कृपया इतना और बता दीजिये?

ब्रह्माकुमारी – यदि किसी हल्की चीज़ को आप सागर में दे मारें तो वह चीज़ उस समय के ज़ोर के कारण कुछ क्षण के लिए सागर के ऊपरी स्तर के नीचे जाती दिखाई तो देगी परन्तु वह सदा के लिए सागर के तले पर थोड़े ही चली जायेगी? वह तो कुछ ही क्षण में ऊपर तैर आयेगी। ठीक इसी प्रकार, जो व्यक्ति नम्रचित्त है और हल्का है, अर्थात् निन्दा-स्तुति की बातों में हल्का है, वह किसी द्वारा नीचा किये जाने से नीचे नहीं हो जाता। भले ही किसी की बातचीत से ऐसा लगे कि बात करने वाले ने कार्य अधिक किया और दूसरे ने (नम्र स्वभाव वाले ने) इतना सहयोग नहीं दिया, परन्तु यह झूठी बात लोगों पर कब तक प्रभाव डालेगी? आखिर लोग समझ ही जायेंगे यह व्यक्ति अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनता है और यह ऐसा ईर्ष्यालु है कि दूसरों के सहयोग की सही सराहना नहीं करता। वे यह भी समझ जायेंगे कि दूसरे व्यक्ति ने इतना सहयोग दिया परन्तु प्रशंसा न होने पर भी उसने महसूस नहीं किया बल्कि वह नम्र ही बना रहा – यह उसकी महानता है।

इसके अतिरिक्त, यदि अपनी प्रशंसा करने वाले व्यक्ति को अपनी महिमा करने से थोड़े समय के लिए सुख मिला या हमारी बात को निम्न कोटि का बनाने वाले व्यक्ति को यदि इस व्यवहार से थोड़ा समय खुशी मिल गई तो इसमें हमारा क्या जाता है? किसी को खशी देने के निमित्त बनना तो गोया पुण्य का कार्य करना है। तो समझना चाहिए कि अभी तो हमने पुण्य किया, बाकी आज नहीं तो कल वस्तु-स्थिति तो स्पष्ट हो ही जाएगी, घबराने और जल्दी करने की क्या बात है! उस व्यक्ति की कमी के कारण हमें अपना उच्च गुण, 'नम्रता' थोड़े ही छोड़ देना चाहिए? इस प्रकार से आप मान की इच्छा को भी त्याग कर यदि आत्मा के सुख में सन्तुष्ट रहेंगे और सेवा-भाव को धारण करेंगे तो नम्रता, सहनशीलता, हर्षितमुखता आदि सद्गुण भी आप में बने रहेंगे और आपको लाभ ही होगा

पाँचवाँ दिन –

सन्तुष्टता और सरलता

ब्रह्माकुमारी – कल मैंने आप८को कहा था कि मनुष्य को सदा आत्म-सुख में सन्तुष्ट रहना चाहिए क्योंकि सभी प्रकार के आत्म-सुख ही सर्वश्रेष्ठ हैं और सभी दिव्य गुणों में से संतोष ही शिरोमणि है। जैसे मनुष्य के सभी आभूषण मूल्यवान और शोभाकारी तो होते ही हैं परन्तु फिर भी ताज एक ऐसा आभूषण है जो उसे राज्य-भाग्य की निशानी होती है, वैसे ही संतोष सभी गुणों में से सिरताज है क्योंकि सन्तुष्ट मनुष्य राजा के समान सुखी होता है। राजा तो कई ऐसे भी होते हैं कि उनके पास सब खज़ाना होने पर भी उन्हें खुशी नहीं होती परन्तु सन्तुष्ट व्यक्ति एक ऐसा अनोखा राजा है जिसके पास सदा खुशी का खज़ाना रहता है। सन्तोषी मनुष्य के पास चाहे किसी स्थूल चीज़ की कमी भी क्यों न हो तो भी उसके संतोष रूपी मुकुटमणि को देखकर अथवा उसकी स्थायी खुशी को देखकर लोग समझते हैं कि वह व्यक्ति सदा भरपूर है। राजा के पास खुशी की कमी देखकर अथवा सन्तुष्टता की कमी देख-कर एक निर्धन को भी राजा की हालत पर दया आती है। राजाओं का खज़ाना तो ऐसा भी हो सकता है कि उससे केवल राजा को ही सुख हो, दूसरे किसी को उससे सुख न मिले; परन्तु सन्तोष एक ऐसा दिव्य खज़ाना है जो संतोषी मनुष्य को तो सुख देता ही है परन्तु यह गुण दूसरों को भी सुख देता है।

संतोषी ही सुखी है और सुखदायक भी

ब्रह्माकुमारी – 'संतोषी मनुष्य' कहा भी उसको जाता है कि जिसे किसी चीज़ की इच्छा न सताती हो अथवा कामना न तड़पाती हो। तो जिसको इच्छा ही नहीं है, उसकी अतृप्ति या अपूर्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर जिसको अतृप्ति नहीं है अथवा जिसकी इच्छा की अपूर्ति का सवाल ही नहीं है, उसे दु:ख भी नहीं हो सकता क्योंकि दु:ख तो किसी इच्छा की अपूर्ति से अनुभव होता है। अत: यह स्पष्ट है कि संतोषी मनुष्य को दु:ख नहीं होता क्योंकि वह निरिच्छुक और अनासक्त होता है, उसकी वृत्ति अविरुच (सन्तुष्ट) अथवा एकरस होती है।

अब रहा यह प्रश्न कि एक मनुष्य की संतुष्टता से दूसरों को कैसे सुख मिलता है? सन्तोषी मनुष्य के संग में दूसरे लोग इसलिए सुख का अनुभव करते हैं कि एक तो वह हर परिस्थिति में उनका ढाढ़स बंधाए रहता है, सुख के वचन बोल-बोल कर उन्हें भी आत्म-सुख का अनुभव देता रहता है, उनकी तड़पाने वाली इच्छाओं को शान्त करके उनकी शान्ति की प्यास को तृप्त करता रहता है, और दूसरी बात यह है कि उसके संग में आने वालों को यह चिन्ता नहीं रहती कि 'यह किसी बात से नाराज न हो जाये।' वे उससे निस्संकोच होकर तथा हल्केपन से व्यवहार करते हैं क्योंकि उन्हें यह मालूम है कि यह सन्तुष्ट रहता है, यह छोटी-छोटी बात मन को नहीं लगाता (स्पृह् नहीं करता)। इस प्रकार संतुष्ट

व्यक्ति दूसरों का ध्यान बार-बार अपनी ओर नहीं खिंचवाता क्योंकि लोगों को उसके प्रति यह नहीं सोचना पड़ता कि ''लेन-देन की कमी-बेशी से या किसी छोटी-मोटी बात से यह हमसे बिगड़ तो नहीं जायेगा।''

जिज्ञासु – बहन जी, जो कुछ आपने कहा है यह तो मानने वाली बात है। 'संतोष' अथवा 'सन्तुष्टता' शब्द ही ऐसा है कि सुनने से एक तो मन को शान्ति मिलती है, और दूसरे मन में इस गुण के प्रति इतना प्यार उठता है कि दिल करता है कि इसे धारण कर लें। 'सन्तोष' और 'शान्ति' का चाहे शब्दार्थ एक-जैसा न हो परन्तु यदि किसी दु:खी मनुष्य को हम यह कहें कि – 'संतोष धारण करो।' तो यह वाक्यभी ऐसा ही अर्थ दे जाता है जैसा कि यह कहना कि 'शान्ति धारण करो।' इसलिए विवेक और अनुभव यह बात तो मानता है कि सन्तोष होने से शान्ति होती है। परन्तु, बहन जी, जैसे आपने सन्तोषी मनुष्य के लक्षण बताये हैं कि वह निरिच्छुक, अनासक्त, तृप्त और हर हालत में खुश होता है, वैसा ही कृपया यह भी बताइये कि 'असन्तुष्टता' के क्या लक्षण हैं अथवा जो सन्तुष्ट न हो, उसकी चाल-ढाल कैसी होती है?

असन्तुष्ट मनुष्य के लक्षण और असन्तुष्टता के कारण

ब्रह्माकुमारी – असन्तुष्ट रहने वाले मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह हर-एक परिस्थिति में, हरेक व्यक्ति में या हरेक बात में कमी, त्रुटि, दोष या अवगुण देखकर उदास, निराश, दुर्भाग्यशाली या थका हुआ महसूस करता है। आप उस व्यक्ति के साथ दस बार नेकी या अच्छाई कीजिए, उसकी सेवा या उसका सत्कार कीजिए परन्तु एक बार यदि सत्कार में कोई मामूली-सी कमी रह गई या आप चूक गये तो वह फिर आपसे असन्तुष्ट होकर नाराज़ हो जायेगा। चाहे वह कमी आपने जानबूझाकर न की हो, परन्तु पिछली भलाई जल्दी भूल जायेगा। इसी प्रकार, यदि उसे स्वस्थ्य प्राप्त हे, उसका मस्तिष्क अच्छा है, उसके मित्र-सम्बन्धी सहयोगी और सुशील हैं परन्तु केवल धन की कमी है, अनेक प्रकार की प्राप्ति को भूलकर वह एक धन ही की कमी के कारण चिड़चिड़ा या उदास या जीवन से तंग दिखाई देगा। आप एक व्यक्ति को रोज़ कुछ समय देते हैं, उसे बहलाते हैं, उसे सहयोग देते हैं और कई वर्षों से आप ऐसा करते आ रहे हैं, परन्तु अभी दो दिनों से आपके पास कोई अतिथि आ गये हैं, आपका ध्यान उनकी ओर लग गया है तो वह व्यक्ति आपकी परिस्थिति और मजबूरी का भी ध्यान न करके अपने स्वार्थ के वश हुआ आपसे असन्तुष्ट होकर रूठ जायेगा और उलाहना देगा कि अब आपने उसे छोड़ दिया है या आप उसकी अवहेलना करने लग गये हैं१

तो मुख्य रूप से आप यह देखेंगे कि जो व्यक्ति हमेशा कमी, असफलता या दोष अधिक देखता है और अच्छाई, सफलता, प्राप्ति या गुण पर कम ध्यान देता है, एक तो वह व्यक्ति असन्तुष्ट रहता है। दूसरे, जो व्यक्ति स्वार्थी हो, अपने लिए अधिक-से-अधिक अधिकार चाहता हो, दूसरे को अपने से

ऊंचा उठता न देख सकता हो, या जो व्यक्ति दूसरों की प्राप्ति से सदा अपनी तुलना करता हो और अपनी कमज़ोरी को दूर करने की बजाय प्राप्ति की अधिक कामना करता हो, वह व्यक्ति भी असन्तुष्ट रहता है। तीसरे, जो व्यक्ति किसी ऐसी परिस्थिति, मजबूरी या बन्धन में बंधा हो कि जिसे वह ठीक करना या सुलझाना चाहता हो परन्तु वह उसके वश से बाहर हो तो वह व्यक्ति भी असन्तुष्टता रहता है।

जो मनुष्य किसी व्यक्ति के स्वभाव तथा व्यवहार से असन्तुष्ट होता है, वह उसे उलाहना देता, उससे रूठ जाता, उसके प्रति नाराज़गी प्रकट करता अथवा परेशानी व्यक्त करता या चिड़चिड़ेपन से बात करता है। जो मनुष्य किसी परिस्थिति से असन्तुष्ट होता है वह उससे तंग महसूस करता है और उदास या परेशान रहता है और उसके जीवन में उल्लास तथा उमंग की कमी देखने में आती है। जो मनुष्य अपने संस्कारों या अपनी कमियों के कारण अपने आपसे असन्तुष्ट होता है, वह थकावट, हिम्मतहीनता और उत्साह-हीनता प्रकट करता है।

असन्तुष्ट व्यक्ति वातावरण को बिगाड़ता हे

चाहे मनुष्य किसी भी कारण से या किसी भी व्यक्ति से असन्तुष्ट हो, वह वातावरण में उदासी या मायूसी की तरंगें (न्नैंग्दहे) फैलाता है और इसकी-उसकी ग्लानि करता फिरता है और अपने रूठने के स्वभाव से या बार-बार नाराज़ होने की आदत से दूसरों के लिए भी समस्या बना रहता है। दूसरे से कोई गुण-चर्चा करने या खुशी देने वाला कोई ज्ञान-वार्तालाप करने की बजाय वह अपने ही असन्तुष्ट होने की चर्चा करके सबका हर्ष नष्ट करके पाप अपने सिर पर लेता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी चिरकालीन (ण्प्दहग्म्) रोग से ग्रसित है तो वह अपने देह की अस्वस्थता के कारण असन्तुष्ट हुआ-हुआ जहाँ भी जायेगा, जिससे भी बात करेगा, उससे परमपिता परमात्मा की चर्चा करने की बजाय, उसे यही कहेगा – ''भाई, मैं तो बहुत परेशान हो गया हूँ! प्रतिदिन बाजू में और जोड़ों में दर्द रहता है। अब यह तन मेरा साथ नहीं देता। मैं तो दुर्भाग्यशाली हूँ....'' आदि-आदि। इस चर्चा से वह लोगों को भी देह-अभिमान (ँद्ब्म्दहेम्दल्हो) में ले आता है, उनका भी प्रभु की विस्मृति की ओर खींच ले आता है। परन्तु जो व्यक्ति हर हालत में सन्तुष्ट रहने के स्वभाव वाला होता है, वह यदि इस प्रकार के रोग से ग्रसित भी हो तो कहता है – ''भाई साहिब, मैं तो ठीक ही हूँ। शरीर का थोड़ा-बहुत कर्म खता था, वह भी चुकता हो रहा है। इस कलियुगी, तमोगुणी शरीर में कुछ-न्-कुछ गड़बड़ होती ही रहती है। अच्छा, खैर, छोड़ो इस खराब एवं पुराने शरीर की बात को, और क्या हाल-चाल है? शिव बाबा ने हम आत्माओं के कल्याण के लिए इन दिनों में क्या महावाक्य उच्चारण किये हैं? भाई, मुझे तो ज़रा वह सुनाओ! सचमुच मैं तो सौभाग्यशाली हूँ; भले ही तन रोगी मिला है परन्तु मन तो ईश्वर चिन्तन का रस लेता है....!''

इसी प्रकार, मान लीजिए, दो व्यक्ति किसी एक ही जगह मेहमान बन कर इकट्ठे होकर गये। दोनों को खाना खिलाया गया। उनमें से एक व्यक्ति कहता है – ''क्या इसी प्रकार के भोजन के लिए हमें निमंत्रण दिया गया था! भाई, यह तो हमारे साथ मज़ाक हुआ है!! इसने खाहमखाह इस सस्ते भोजन के लिए हमारा समय नष्ट किया!!! आज तो मैं सबके सामने मन की बात पी गया हूँ; कल यह दफ्तर में मिलेगा तो मैं इसे उलाहना दूँगा।'' दूसरा व्यक्ति कहता है – ''नहीं भाई, यह बात ठीक नहीं है। न हम कोई खाने के भूखे हैं, न उसने हमें अपनी अमीरी दिखाने के लिए दावत दी थी, बल्कि अपने हैसियत के अनुसार वह जो कुछ कर सकता था, उसने किया और यह खाना तो उसके स्नेह का सूचक था। आप इस स्थूल भोजन को क्यों देखते हो ? आप समय नष्ट होने की बात क्यों कहते हो; खाना तो निमित्त मात्र था, वास्तविक भाव तो यह था कि मिलेंगे-जुलेंगे तो विनोद की दो बातें कहेंगे और, इस प्रकार, आपस में प्रेम-प्यार बढ़ेगा तथा हमारा मित्र-भाव परिपक्व होगा।'' अब देख लीजिये कि असन्तुष्ट व्यक्ति और संतोषी में कितना अन्तर है! असन्तुष्ट स्वभाव का व्यक्ति कमी को देखकर खाहमखाह अपने को जला रहा है और दूसरे के प्रति नाराज़गी प्रगट करके अथवा उलाहना देकर वातावरण को बिगाड़ने की बात सोच रहा है, जबकि सन्तुष्ट व्यक्ति का स्वभाव यह है कि वह निमन्त्रण देने वाले (प्दे) के स्नेह को अर्थात् उसकी अच्छाई की ओर ध्यान कर उसी परिस्थिति में खुश है और उसे धन्यवाद देता है१

सन्तुष्टता ही दूसरों को स्नेही बनाती है

आप सोच सकते हैं कि सन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति का ही लोग संग करना पसन्द करेंगे, असन्तुष्ट या रूठने वाले व्यक्ति से तो वे किनारा करना चाहेंगे। इस कारण, सन्तुष्टता एक ऐसा गुण है जो दूसरों को स्नेही बनाता है जबकि असन्तुष्टता एक ऐसा दुर्गुण है कि बने मित्रों को भी बिगाड़ देता है, यहां तक कि लोग असन्तुष्टता के स्वभाव को देखकर दूर रहने लगते हैं और कहते हैं कि – ''भाई, छोड़ो इसको। इसकी तो आदत ही ऐसी है।'' तो स्पष्ट है कि सन्तुष्टता स्नेह जोड़ने वाली सुई है जबकि असन्तुष्टता मुहब्बत की कैंची है।

इसी तरह, मान लीजिए कि एक कुम्हार ने मिट्टी के कुछ बर्तन या खिलौने बनाकर रखे हैं। अनायास ही वर्षा हो जाती है। अब कुम्हार असन्तुष्ट होकर कहता है – ''हाय, मैं तो मारा गया! अरे मैं बड़ा दुर्भाग्यशाली हूँ। इस वर्षा के कारण मेरे बर्तन सूखेंगे नहीं! इनके न सूखने के कारण मैं इन्हें बेच नहीं सकूंगा और न बेचने के कारण कमा नहीं सकूंगा और मैं कमाऊंगा नहीं तो खाऊंगा कहां से ?'' इस प्रकार, वह इस परिस्थिति से परेशान होकर अपने घर वालों से तथा पड़ौसियों से भी चिड़चिड़ेपन की बात करता है, कुदरत से भी नाराज़गी प्रकट करता है, अपने भाग्य की दुहाई देता है और ऐसी बातें कर-करके दूसरों के मन को भी उदास कर देता है और अब कोई उपाय सोचने की ओर बुद्धि लगाने

की बजाय पुरुषार्थहीन, हिम्मतहीन तथा उलझा हुआ होकर बैठ जाता है। परन्तु उसकी पत्नी कहती है – ''देखो जी, इन दिनों वर्षा तो आवश्यक थी। यदि वर्षा न होती तो खेती कैसी होती? और यदि खेती ठीक न उतरती तो मण्डी में अनाज न मिलता! तो क्या हम नोटों को लेकर खाते? अजी जो हुआ उसमें खुश रहो, राज़ी रहो। जबकि आप भावी को बदल नहीं सकते तो उससे कुढ़ते रहना कम-ज़ोरी है। चाहिए यह था कि हम पहले ही बर्तन बना कर सुखाते। खैर, जो होना था सो हो गया, अब इसी में सन्तुष्ट रहकर आगे बढ़ो। अब करना क्या है, एक चित्त होकर उसे सोचो! संसार में काम की कमी नहीं है। मैं कहीं बर्तन माँज लूँगी; आप भी कुछ दिनों के लिए कोई और काम सोच लो। परन्तु खुश रहो, अपने खुशी रूपी धन को मत खोओ। उठो, कुछ मुस्कराओ, वर्ना तुम्हारे चेहरे पर उदासी देखकर घर का वातावरण ही बदल गया है और बेचारे बच्चे भी चुप-चुप तथा उदास हो गये हैं.....!'' तो देखिए, संतोषी और असंतोषी में कितना अन्तर है!

आज हर-एक मनुष्य का स्वभाव ऐसा बन गया है कि वह ५०ः या ५०ः असन्तुष्ट अवश्य रहता है और असन्तुष्टता के कारण अपनी खुशी में घाटा डालता है। आज रूठने का स्वभाव इतना सामान्य हो गया है कि जब भी कोई दो व्यक्ति आपस में कहीं मिलते हैं तो आपस में पूछते हैं – ''क्यों जी, खुश-राज़ी, हो?'' इसका अर्थ यह हुआ कि हरेक मनुष्य सोचता है कि दूसरा व्यक्ति मुझसे या किसी परि-स्थिति के कारण नाराज़ (न-राज़ी) तो नहीं है? यदि वह नाराज़ होगा तो अवश्य ही उसकी खुशी में भी कमी आई होगी। इसलिए आज दो व्यक्तियों के मिलने पर एक-दूसरे से यह ज़रूर पूछा जाता है – ''क्यों जी, खुश-राज़ी हो?'' दूसरा व्यक्ति उत्तर में कहता है – ''हां जी, ठीक-ठाक हूँ।'' 'ठीक' के साथ 'ठाक' शब्द यां इस उत्तर को व्यक्त करता है कि – ''हां भाई, किसी से नाराज नहीं हूँ, इसलिए ठीक हूँ। तो विचार कीजिए कि खुश रहने के लिए राज़ी रहना या ठीक रहने के लिए ठाक रहना कितना ज़रूरी है!

इस प्रकार, मैंने कुछ उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि मन में उदास, दिक (तंग), हिम्मतहीन या रुष्ट होना अथवा उमंग और उल्लास को अनुभव न करना, वचन से उलाहना देना, नाराज़गी प्रगट करना या चिड़चिड़ापन व्यक्त करना और कर्म से पुरुषार्थहीनता, थकावट या नामिलवत्तन (ज्दह-म्द-दर्जूग्दह) का होना – यह सभी असन्तुष्टता के चिह्न हैं।

असन्तुष्ट व्यक्ति कहना है – ''क्या करूँ, कैसे करूँ?

जिज्ञासु – और ऐसा असन्तुष्ट व्यक्ति वातावरण में उदासी की लहर पैदा करता है और खुश नहीं रहता।

ब्रह्माकुमारी – हाँ! खुश न रहने के अतिरिक्त, वह उलझा हुआ-सा (ण्दहल्) रहता है और सदा यही कहता है – ''क्या करूँ, कैसे करूँ, परिस्थिति तो ऐसी है, मजबूरियां ऐसी हैं, मेरे साथ के लोग ऐसे

स्वभाव के हैं....!'' अपनी परिस्थितियों से तथा संगी-साथियों से असन्तुष्ट होकर वह उन्हीं संकल्पों-विकल्पों में पड़ जाता है और अपने पास के साधनों तथा शक्तियों को जुटा कर कुछ-न-कुछ करने लग पड़ने की बजाय सदा असमर्थता प्रगट करता है और सदा इन्हीं शब्दों को दोहरता है – ''क्या करूँ, कैसे करूँ?'' स्पष्ट है कि वह मूंझा (उलझा हुआ, ण्दहलि्) रहता है। थोड़े-बहुत जो साधन उपलब्ध हैं और जिस अंश में परिस्थिति सहायक है वह उसका भी सदुपयोग नहीं कर पाता। वह थोड़ी-सी कठिनाइयों को, हल्के से बन्धनों को तथा छोटी-सी बातों को भी बड़ा मान लेता है और बहुत बड़ी उपलब्धि को, बहुत बड़े साधन को भी छोटा और निकम्मा-सा मानने लगता है। वह अच्छाई और प्रापति को कम गिनता (ल्ञ्ँ्ऍंऐंऊर्ध्ँऊं करता) है और कमी तथा बाधा को अधिक मानकर (ध्नै-ल्ूर्स्ू करके) सो जाता है। इसलिए कहा भी गया है कि – ''सन्तोषी मनुष्य के हाथ में जस (यश) होता है,'' अर्थात् थोड़ी-सी प्राप्ति को भी बढ़ाने की खूबी उसमें होती है जबकि असन्तुष्ट व्यक्ति कि हाथ में जस (बरकत) नहीं होता, वह किसी अल्प-प्राप्त वस्तु को अपनी खुश-मिज़ाजी तथा दिव्यता न होने के कारण बढ़ा नहीं पाता, उसका विकास भी नहीं कर पाता। सन्तुष्ट के पास एक चीज़ हो तो भी उसके व्यवहार तथा वचन से ऐसा लगता है कि उसके पास लाख हैं और, इस कारण, सुनने वाले भी हिम्मत करके कार्य में जुट जाते हैं। असन्तुष्ट के पास लाख हों तो भ उसकी बात से ऐसा लगता है कि वह कंगाल है और बड़ी विकट स्थिति में है। इस प्रकार, संतोषी विकट स्थिति को भी हल्का बना देता है और असन्तोषी हल्की स्थिति को भी संकटमय प्रदिर्शत करता है।

जिज्ञासु – जी हाँ, यह सभी बातें मेरे मन को ठीक लगती हैं। इनको सुनकर मन में यह दृढ़ संकल्प उठता है कि इसी क्षण से लेकर सन्तुष्टता रूपी शिरोमणि गुण को न छोडूं, चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, कैसे लोगों के संग गुज़ारनी पड़े परन्तु रूठना, उलाहना देना, तंग होना, चिड़चिड़ा होना, आदि-आदि – ये सब नीच स्वभाव छोड़ दूँ।

असन्तुष्ट व्यक्ति इसकी शिकायत, उसकी निन्दा में समय नष्ट करता है

ब्रह्माकुमारी – यह तो अच्छा संकल्प है। इसे तो दृढ़ करना चाहिए वर्ना इन व्यर्थ संकल्पों में पड़े व्यक्ति का समय इसकी शिकायत, उसकी निन्दा करने में व्यर्थ जाता है और शक्ति भी नष्ट होती है।

जिज्ञासु – परन्तु असन्तोष पैदा करने वाली हरेक परिस्थिति को पार करने के लिए आप मुझे ऐसी युक्तियाँ बताइये कि मैं सन्तुष्ट रहने के दृढ़ संकल्प को उन परिस्थितियों में भी सुदृढ़ रख सकूँ। बहन जी, जिन लोगों के सम्पर्क में, मैं आता हूँ, उनके स्वभाव तथा संस्कारों से मैं असन्तुष्ट रहता हूँ। मान लीजिए, कोई व्यक्ति किसी कार्य की व्यवस्था (ैंहासहू) ठीक नहीं करता, समय का पालन नहीं करता, आवश्यक बातों को भूल जाता है या बार-बार समझाये जाने पर भी किसी कार्य-विधि में वाछिंत परिवर्तन अथवा ज़रूरी सुधार नहीं करता या इस प्रकार मैं उसमें और कमियाँ देखता हूँ जोकि

मुझे बहुत अखरती हैं, तो मन में असन्तुष्टता का एक ज्वार भाटा या एक तूफान-सा उठता है। उस व्यक्ति से बार-बार असन्तुष्ट रहने के कारण मेरे मन में उसके प्रति घृणा भी पैदा हो जाती है, स्वभाव में चिड़चिड़ापन भी आता है और खुशी का पारा भी गिर जाता है। उस व्यक्ति को ठीक करने की कोशिश करता हूँ परन्तु वह ठीक नहीं होता। तो परिस्थिति में कोई परिवर्तन न होते देखकर और ज्यादा परेशानी (ैज्ज्दग्हूसहू) बढ़ती है। ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए?

दूसरों के स्वभाव से अपना स्वभाव न मिलने पर भी सन्तोष कैसे आये?

ब्रह्माकुमारी – आपको यह याद रखना चाहिए कि यह मनुष्य-सृष्टि विभिन्नताओं का एक खेल (ैंगूब ्ैं) है। यह विविधता का एक वृक्ष (ैंगूब ऊैं) है। इसमें भाँति-भाँति के लोग हैं। सबके संस्कार और स्वभाव अलग-अलग हैं। इस आसुरी सृष्टि में हर-कोई अपने-अपने खराब संसकारों के वश हुआ-हुआ कर्म कर रहा है। तो जब आप दूसरों को संस्कारों के परवश हुआ जानेंगे, तब आपके मन में तूफान नहीं उठेगा। वह व्यक्ति जिसे आप सुधारना चाहते हैं; पुरुषार्थ करने पर भी शीघ्र नहीं बदल पा रहा क्योंकि उसके अपने संस्कार इतने दृढ़ हो चुके हैं। आप में भी तो असन्तुष्ट रहने का संस्कार बना हुआ है जिसके वशीभूत होकर आप उससे नाराज़ रहते हैं। आप क्यों नहीं अपने इस रूठने की आदत को छोड़ देते? आप अपने दिल पर हाथ रखकर देखिए – 'क्या आप में कुछ ऐसे संस्कार नहीं हैं जिनमें जल्दी और सहज परिवर्तन नहीं हो पा रहा और जिनके वश होकर आप व्यवहार करते हैं? इस बात को ध्यान में रखकर दूसरे को देखेंगे तो आप तंग नहीं महसूस करेंगे क्योंकि आप सोचेंगे कि इस दुनिया में अब माया का राज्य है, सभी की मत (शर्हूंत्ूब) तमोगुणी हो चुकी है; इसे बदलने में समय तो लगेगा ही। जबकि मैं अपने किन्हीं संस्कारों को इतनी जल्दी नहीं बदल पा रहा तो दूसरों से ऐसी आशा करके मैं निराशा पल्ले क्यों लूँ? अत: उससे असन्तुष्ट होकर अपनी खुशी गँवाने की बजाय आप उसे भी गुण दान करने की कोशिश करेंगे और नम्रतापूर्वक व्यवहार करने लगेंगे। परन्तु जब आप ज्ञान के हथियार और पावर (शक्ति) छोड़ देते हैं तभी आप पर असनतुष्टता का वार हो जाता है और आप तंग या दिक (सताया हुआ) महसूस करने लगते हैं।

आर्थिक कठिनाई में सन्तोष कैसे रहें?

जिज्ञासु – बहन जी, मेरे असन्तुष्ट रहने का एक कारण आर्थिक कठिनाई भी है। आप जानती हैं कि मंहगाई दिनोंदिन बढ़ती जाती है परन्तु आमदनी उस अनुपात में नहीं बढ़ रही। अत: अपनी आर्थिक अवस्था सेभी मैं असन्तुष्ट रहता हूँ क्योंकि ईश्वरीय कार्यों में जो धन का सहयोग देने का मेरे मन में शुद्ध संकल्प रहता है, न तो मैं वह पूरा कर पाता हूँ, न ही अपनी सब प्रकार की लौकिक आवश्यकताओं को पूरा कर पाता हूँ। बहन जी, जिसके सामने यह रोज़ की समस्या हो, वह कैसे सन्तुष्ट रह सकता है?

ब्रह्माकुमारी – जिसके पास सब साधन उपलब्ध हों, जिस पर बाँके दिन न आए हों, जिसको किसी विकट समस्या का सामना न हो याजिसे किसी प्रकार की कमी न हो, वह तो सन्तुष्ट होगा ही। सन्तुष्टता का गुण धारण करने का तो प्रश्न ही तब उठता है जब परिस्थितियाँ सन्तोषजनक न हों। अत: आप यह क्यों कहते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में संतुष्ट कैसे रहा जा सकता है? ऐसी हालतों में ही तो संतुष्टता का गुण धारण करना है और यह बात सम्भव है तभी तो इसके लिए पुरुषार्थ करने को कहा जाता है; यदि यह संभव ही न हो तब तो ऐसे पुरुषार्थ की चर्चा ही व्यर्थ है। चलिए, एक मिनट के लिए मान लेते हैं कि जब अच्छी रोटी की समस्या सामने हो तो संतोष धारण करना असंभव है। परन्तु क्या असंतोष प्रकट करने से स्थिति सुधर जायेगी? कभी नहीं। जिसका असन्तोषी स्वभाव होगा वह कभी भी संतुष्ट (ूँग्) नहीं होगा; उसकी इच्छाएं या कामनाएं और-और रूप धारण करके बढ़ती ही जायेंगी। तो क्या असंतुष्ट होकर अंदर-ही-अंदर अग्नि में उबलते या स्वयं खिजलाते रहना आपको अच्छा लगता है?

असन्तुष्टता से हानि और सन्तुष्टता से लाभ

असन्तुष्ट रहने से तो व्यक्ति के मन में हलचल (ूर्ल्हम) और बुद्धि में असन्तुलन रहता है और वह व्यक्ति तनाव, निराशा, नीरसता, मन-मुटाव या व्यग्रता के कारण ठीक निर्णय भी नहीं कर पाता कि अब स्थिति के सुधार के लिए क्या किया जाए और वह आवश्यक उत्साह भी नहीं जुटा पाता। अत: ऐसी मानसिक स्थिति में तो उसका कार्य बिगड़ता है और खटपट भी बढ़ती ही है। ऐसा असन्तुष्ट मनुष्य या तो केवल ख्याली पुलाव पकाता रहता है – उससे उसका पेट तो भरता नहीं है। मेहनत करने से ही मनुष्य का निर्वाह होता है और सही रूप-रेखा से मेहनत तो वही कर सकता है जिसकी बुद्धि ठीक हो। अत: असन्तुष्ट होकर बुद्धि में गर्मी लाना और अपनी खुशी का खज़ाना गंवाना – यह तो भारी भूल है। जैसे धन खुशी का साधन है, वैसे ही संतुष्टता भी तो खुशी का साधन है और इसीलिए एक प्रकार का धन है। इस प्रकार के धन को प्राप्त करने के लिए दूसरे प्रकार के धन को गँवाना, क्या यह उचित है? तो सही रीति और नीति यह है कि वर्तमान परिस्थिति में संतोष धारण करके, उसे सुधारने या पार करने के लिए मनुष्य कोई विधिवत् उपाय करे। अभी की अवस्था को अपने कर्मों का फल समझ कर आगे की सुधि ले। जैसे भोजन शरीर के लिए खुराक है, वैसे ही खुशी भी मन अथवा आत्मा की खुराक है। अत: कहा गया है कि – ''खुशी-जैसी खुराक नहीं है।'' परन्तु खुशी के लिए तो संतुष्टता चाहिए। अत: जैसे मनुष्य शारीरक सुख के लिए खुराग ढूँढ़ता है और उसके लिए धन कमाता है, वैसे ही उसे चाहिए कि मानसिक खुशी के लिए वह सन्तुष्टता को कायम (स्थिर) रखे।

निर्धरता की अवस्था में भी आत्मिक सुख में रहने के लिए विचारधारा

यह संसार परिवर्तनशील है और यहां कर्म का हर-एक को फल मिल मिलता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वर्तमान समय के पार्ट को साक्षी होकर करते हुए भविष्य के लिए अच्छे कर्म करे ताकि

फिर उसकी ऐसी हालत न बने और यह ख्याल रखे कि एक दिन परिवर्तन आयेगा ही क्योंकि सभी दिन एक-जैसे नहीं होते।

इसके अतिरिक्त, मनुष्य यह सोचे कि – ''बहुत धन के झंझट, बन्धन, कत्र्तव्य, ठाठ-बाठ, सम्बन्ध-प्रबन्ध आदि भी सभी बढ़ जाते हैं और ऐसे मनुष्य की बुद्धि सदा धन कमाने, संभालने, लगाने, खाने आदि में लगी रहती है और उसे कम अवकाश मिलता है कि वह प्रभु का मनन-चिन्तन करे और बुद्धि का योग ईश्वर से लगाकर अविनाशी कमाई करे। फिर, धनाढ्य व्यक्तियों के पास धन के साथ कई व्यसन और वासनाएं भी आ जाती हैं और वह ईश्वर-विमुख होकर कार औश्र विकार के चक्कर में लगा रहता है। अत: मनुष्य को सोचना चाहिए कि अधिक धनवान न होने के कारण मुझे यह एक अन-मोल लाभ भी तो है कि मेरी न कोठी है, न कार, न मेरा कोई कारखाना है और न झंझटों का विस्तार। मेरी बुद्धि बिखरी हुई भी नहीं है। अत: यह तो मुझे सहूलियत एवं सुविधा मिली हुई है कि मेरा मन एक ही ईश्वर का सहारा मानने के लिए तैयार है और मेरी बु८ अपनी लगाम परमात्मा के हाथ में देने को तैयार है। अत: मैं तो बड़ा सौभाग्यशाली हूँ कि अविनाशी कमाई के लिए मुझे मौका मिला है! धन के अभिमान से तो कुदरती तौर पर पहले से ही मैं दूट गया हूँ और यह धन तो अभी सब मिट्टी में मिलने वाला है। अभी आने वाले महाविनाश के बाद जो सतयुगी सृष्टि आयेगी, उसमें तो मैं बहुत ही मालदार होऊंगा। निर्धनों के ही तो भगवान हैं। अत: जबकि धन के भी दाता स्वयं भगवान मुझे मिल गये हैं तो मुझे चिन्ता किस बात की है? इस थोड़े समय की कठिन परिस्थिति में सन्तुष्टता का गुण धारण करके, रूखी-सूखी खाके प्रभु के गुण गाने और खुशी मनाने के फलस्वरूप मैं तो सदा-सुखी सतयुगी दुनिया में चला जाऊंगा और यह बड़े-बड़े धनी-मानी लोग, जो अभी धन के नशे में हैं तथा प्रभु से विमुख हैं, इनका धन यहीं धरा रह जायेगा। अत: मैं तो खुश-नसीब हूँ! मैं तो इनसे करोड़ गुणा अच्छा हूँ कि धनी (प्रभु) का बच्चा अर्थात् प्रभु का वारिस बना हूँ! इस प्रकार मनन करने से मनुष्य सन्तुष्टता और सुख को पा लेता है।''

जिज्ञासु – बहन जी, यह बात तो बहुत ठीक है, परन्तु मुश्किल यह है कि यह शरीर भी तो परेशान करता है। आपने स्वयं ही कहा था कि जब मनुष्य किसी चिरकालीन (ण्प्दहग्म्) रोग से ग्रसित होता है और कोशिश करने के बाद भी ठीक नहीं होता तो वह भी सन्तुष्ट नहीं रहता।

रोग की अवस्था में सन्तुष्ट कैसे रहें?

ब्रह्माकुमारी – परन्तु, यदि रोग के कारण कोई असन्तुष्ट रहेगा तो असन्तुष्टता के परिणामस्वरूप उसके शरीर पर और अधिक बुरा प्रभाव पड़ेगा क्योंकि मन की परेशानी का प्रीव तन पर पड़ता अवश्य है। असन्तुष्ट होने से हानि ही हुई, लाभ क्या हुआ? यह तो अज्ञानता है जिससे मनुष्य का मन भी अस्वस्थ हो ('स्व'-स्थित न रहे) और तनभी अधिक अस्वस्थ हो। शरीर का रोग तो पहले से ही है, मन को भी

असन्तुष्टता का रोग लगा कर पीड़ित करना – यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है? यह तो अपने समय को बर्बाद करना है। इसकी बजाए तो मन को ईश्वर में लगाकर योग-बल से मन को भी खुशी से भरपूर करना और रोग का भी सामना करना अच्छा है। इससे उल्लास भी बढ़ेगा और हल्कापन भी आयेगा। कोई कह सकता है कि – ''क्या करूँ, शरीर के रोग के कारण दूसरों की सेवा भी लेनी पड़ती है, इसलिए अपने से असन्तुष्ट रहता हूँ।'' परन्तु ऐसे मनुष्य को सोचना चाहिए कि दूसरों की मदद अथवा सेवा ले तो वैसे भी रहा हूँ, मदद लेते हुए भी यदि हम अपने से या अन्य किसी सेवाधारी से असन्तुष्ट रहेंगे तो दूसरे व्यक्ति भी भारी हो जायेंगे; वे सोचेंगे कि इस व्यक्ति की दवाई, सेवा आदि भी हो रही है, फिरभी यह असन्तुष्ट रहता है!! इस प्रकार हमारी इस आदत को देखकर उसे भी मदद देने में उल्लास नहीं आयेगा।

हम यह तो जानते ही हैं कि यह कलियुगी सृष्टि है, यहां प्रकृति के तत्व भी तमोप्रधान हैं। आत्मा भी विकर्मों के खाते के कारण कर्ज़दार (ऋणी)है, शरीर के रोग-आदि भी अब विज़िट (ऋेगू) करने अथवा विदाई लेने आयेंगे, जैसे कि किसी कर्ज़दार व्यक्ति के बाहर जाने की तैयारी का पता लगने पर लोग उसके पास आकर कहते हैं कि – ''हमें जो आपने कर्ज़ देना है, वह देकर जाओ।'' अत: हमें असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि इससे समझना चाहिए कि अब इन सबका अंत आ पहुँचा है। इस ज्ञान-युक्त विचारधारा को चलाने से आपमें सन्तोष आयेगा।

जिज्ञासु – बहन जी, आपने जितनी बातें बताई हैं वे सभी अनमोल हैं और धारण करने के योग्य हैं। परन्तु, एक कठिनाई मैं और अनुभव करता हूँ। जब मैं अपने आपसे असन्तुष्ट हो जाता हूँ, तब मन बड़ा विक्षिप्त हो जाता है। कभी तो अपने किन्हीं संस्कारों को बदलता न देखकर अपने से ही निराश हो जाता हूँ, कभी अपने लौकिक कार्य में या ईश्वरीय सेवा में उच्च सफलता न देखकर उदास हो जाता हूँ और अपने आपसे ही रूठ-सा जाता हूँ। इस विक्षेप्ता को कैसे दूर करके सन्तोष और खुशी प्राप्त की जाये?

अपने-आपसे सन्तुष्ट कैसे रहें?

ब्रह्माकुमारी – अपने-आपसे असन्तुष्ट? इसका कोई अभिप्राय: ? कोई लक्ष्य? इससे कोई प्राप्ति? क्या किसी ज्ञानवान् व्यक्ति का यही पुरुषार्थ होता है? अपने ही संस्कारों से असन्तुष्ट होकर या अपनी धीमी प्रगति से असन्तुष्ट होकर अपने-आपसे हार मान कर, पुरुषार्थ-हीन होकर बैठ जाना – यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है? यदि कोई संस्कार नहीं बदलता, किसी पुरुषार्थ में सफलता नहीं मिलती तो जिनमें आप उसके अच्छे संस्कार को देखते हैं, अथवा आपकी तुलना में जो व्यक्ति इस आध्यात्मिक पुरुषार्थ में आगे है या अधिक अनुभवी है या जिन्हें अलौकिक कार्य में अधिक सफलता मिलती है, उनसे मिलकर उनकी प्रगति का, सफलता का या मनोपिरवर्तन का आप रहस्य मालूम कीजिए और आपने

में जो कमजोरी है, उसे दूर कीजिए। सही तरीका तो यह पुरुषार्थ करना हे, न कि तंग या परेशान होना या असन्तुष्ट होना। शिवबाबा ने हरेक परिस्थिति को पार करने तथा उसमें भी एकरस खुशी में रहने की युक्तियाँ तो बताई हैं। अत: किसी भी परिस्थिति में यह कहना कि – 'अब क्या करूँ', 'कैसे करूँ' – ज्ञान के प्रैक्टिकल पहलू को न जाने का सूचक है। इस प्रकार, प्रैक्टिकल ज्ञान की कमी के कारण असन्तुष्ट रहने की बजाए तो अनुभवी बहनों या भाइयों से समस्या का समाधान जानने की कोशिश करनी चाहिए।

जिज्ञासु – यदि मनुष्य हरेक परिस्थिति में सन्तुष्ट रहेगा तो क्या उसमें पुरुषार्थ-हीनता और अपने से वृथा प्रीति करके आत्म-वंचना (म्दस्र्ज्मेहम्ब) का भाव पैदा नहीं हो जाएगा?

'सन्तुष्टता' पुरुषार्थ-हीनता का नाम नहीं है

ब्रह्माकुमारी – सन्तुष्ट रहना अलग बात है और हाथ पर हाथ रखकर तुष्टि मान लेना अलग बात है। सन्तुष्टता का अर्थ पुरुषार्थ-हीनता नहीं है१

जिज्ञासु – दोनों में क्या अंतर है? उस अन्तर को जानने के लिए परख या परीक्षा क्या है?

ब्रह्माकुमारी – जो मनुष्य पुरुर्षा नहीं करेगा और यों ही आत्म-तुष्ट मान लेगा, वह बाहर से चाहे यह न कहे कि मैं अपने-आपसे असन्तुष्ट हूँ परन्तु अपने मन में अवश्य ही जानेगा कि वास्तव में मुझे जो उद्यम करना चाहिए, वह मैं नहीं कर रहा हूँ। पुनश्च, उस व्यक्ति से और लोग भी सन्तुष्ट नहीं होंगे वे कहेंगे कि – ''यह व्यक्ति पुरुषार्थ तो करता नहीं है, ऐसे ही मिथ्या खुशी मना रहा है।'' उदाहरण के तौर पर, कोई व्यक्ति यदि आर्थिक कठिनाई में है, तो लोग उसी मनुष्य की महिमा करेंगे या उसे ही पसन्द करेंगे जो धन कमाने का पूरा पुरुषार्थ करने के बाद भी आर्थिक कठिनाई को सन्तुष्टता और खुशी से पार कर रहा होगा। दूसरा व्यक्ति, जोकि कुछ करता-धरता तो है नहीं परन्तु संतोषी बना फिरता है, उसके लिए तो लोग कहेंगे कि यह भूला भाई है। उसके जीवन के तरीके से लोग संतुष्ट नहीं होंगे, न वह अपने मन की गहराई में स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से संतुष्ट होगा। अत: यही सन्तुष्टता यह है कि मनुष्य कभी असफलता, कठिनाई आदि को दूर करने का पुरुषार्थ तो पूरा करे परन्तु ये सब करते हुए भी जब तक परिस्थिति में परिवर्तन न आये तब तक सन्तुष्ट रहे। इतना ही नहीं बल्कि ऊंचा जीवन तो उसका है जो स्वयं सन्तुष्ट रहने के अतिरिक्त दूसरों को भी संतुष्ट करे।

जिज्ञासु – निस्सन्देह वह जीवन में तो बहुत उच्च है ही कि मनुष्य स्वयं भी सन्तुष्ट रहे और दूसरे भी उससे सन्तुष्ट रहें। परन्तु बहन जी; दूसरों को सन्तुष्ट करने का जीवन-मार्ग क्या है?

दूसरों को सन्तुष्ट कैसे करें?

ब्रह्माकुमारी – मनुष्य दूसरों को सन्तुष्ट तभी कर सकता है जब वह दूसरों के स्वभाव (ँूल), हैसियत (शक्ति) और परिस्थिति को जानकर और समय को पहचान कर कदम उठाए और उनमें अपना

विश्वास (ईंगू) पैदा करके, उनसे नम्रता तथा मधुरता से व्यवहार करे। उदाहरण के तौर पर कोई व्यक्ति आपके किसी कार्य में सहयोग देता है परन्तु उसकी हैसियत को या परिस्थिति को न जानने के कारण आप उससे अधिक आशा रखते हैं तो न आप उससे सन्तुष्ट होंगे और न वह आपके स्वभाव से सन्तुष्ट होगा। इसी प्रकार, मान लीजिए कि किसी व्यक्ति में कोई कमी है जो आपको खटकती है। यदि आप उसकी कमी उसे उचित समय पर न बता कर आगे-पीछे बताएंगे या उसके स्वभाव को तथा मानसिक हैसियत (क्षमता) को न जानते हुए ऊंचे-नीचे शब्दों में बतायेंगे तो वह आपसे असन्तुष्ट हो जाएगा। परन्तु दूसरे को सन्तुष्ट रखने के लिए या उनका स्नेही बनने के लिए, उनके निकट जाने के लिए जिस गुण की विशेष धारणा की आवश्यकता है, उसका नाम है – सरलता। सरल मनुष्य न केवल स्वयं सन्तुष्ट रहता है बल्कि दूसरे भी उससे प्रसन्न रहते हैं।

जिज्ञासु – सरल-चित्त मनुष्य से लोग संतुष्ट कैसे रहते हैं?

सरलता

ब्रह्माकुमारी – सरल स्वभाव वाला मनुष्य बाहर-भीतर या मनसा-वाचा-कर्मणा से एक-जैसा होता है। उसके मन में एक, और बाहर में दूसरी नहीं होती। वह बनावट, छल-कपट या कुटिलता से व्यवहार नहीं करता। इसलिए लोग उससे निश्चिंत रहते हैं और उसकी सच्ची-सच्ची, भोली-भोली बातें प्यारी लगती हैं। सरल स्वभाव वाला व्यक्ति यदि कोई ऐसी बात भी कह दे जो लोगों को पसंद न हो तो भी वे उससे इतना नाराज़ नहीं होते जितना छल-कपट वाले से, क्योंकि वे जानते हैं कि इस मनुष्य का मन साफ है, इसने हमसे धोखा करने या हमें गिराने के विचार से ऐसा नहीं कहा, बल्कि हमारे बारे में जो कुछ इसका विचार था, इसने उसे सीधेपन और सादगी से कह दिया है। यदि वे थोड़े समय के लिए उसकी किसी बात से नाराज़गी प्रकट करें भी तो थोड़ी देर के बार उनका मन अन्दर से उन्हें कहता है – ''ऐसे सीधे और सच्चे आदमी से नाराज़ होना या उससे कुछ बुरा कहना ठीक बात नहीं है। अत: वे शीघ्र ही और स्वत: ही फिर उससे स्नेह जोड़ लेते हैं क्योंकि उसकी सरलता, सच्चाई, मन की सफाई तथा भोलापन उन्हें आकर्षित करता है।

जैसे सरल स्वभाव वाले व्यक्ति से दूसरे सन्तुष्ट रहते हैं, वैसे सरल स्वभाव वाला मनुष्य स्वयं सन्तुष्ट रहता है। यदि किसी कारण से उसके मन में किसी प्रकार की असन्तुष्टता आये भी, तो भी थोड़ा ही समझाए जाने पर वह अपने सरल स्वभाव के कारण जल्दी ही सन्तुष्ट होता है। परनतु टेढ़े स्वभाव वाला मनुष्य दूसरे की बात में, चाहे वह अच्दे भाव से तथा उसके कल्याण के लिए भी कही गई हो, में यह देखता रहता है कि इससे कोई छल या कपट या बनावट तो नहीं है। इस प्रकार वह अपने ही कल्याण के बारे में लोगों से कोई बात सुनने पर भी उस बात को पवित्र हृदय से ग्रहण नहीं करता। इसलिए उसके जीवन में अथवा संस्कारों में जल्दी परिवर्तन नहीं आता। सरल व्यक्ति का मन साफ

होने के कारण उसमें दूसरे दिव्य गुणों की धारणा भी जल्दी हो जाती है जबकि कपटी (ण्दृदव्) अथवा चालक (ण्ूॅब) व्यक्ति के जीवन में दिव्य गुणों की धारणा इतनी जल्दी नहीं होती क्योंकि उसका मन किसी-न-किसी उधेड़बुन में लगा रहता है। वह कभी यह सोचता कि – ''भूतकाल में उस मनुष्य ने मेरे साथ अच्छज्ञ व्यवहार नहीं किया था, अब यह मेरे साथ अच्छाई कैसे कर सकता है? अथवा आज तक फलाँ मनुष्य ठीक नहीं है, वह भविष्य में भी बदलने वाला दिखाई नहीं देता!'' परन्तु जो सरल-चित्त व्यक्ति होता है, वह तो अपनी मस्ती में मस्त रहता है और यही सोचता है कि जैसा कोई करेगा, वैसा पायेगा। वह अपनी सत्यता को किसी भी हालत में नहीं छोड़ता। इसलिए, ''सच्चे पर साहिब राज़ी'' होने की उक्ति के अनुसार उसे ईश्वर से सहायता भी मिलती है। अत: सच्चे साहिब (सत्य-स्वरूप-परमात्मा) की मदद से, मन में दूसरे के प्रति कोई दुर्भावना या कष्ट न होने से, कोई उधेड़बुन न होने से, दूसरे द्वारा कए गए किसी पिछले व्यवहार को या उसके वर्तमान स्वभाव को बार-बार अपने मन में न लाने से, सरल-चित्त मनुष्य सन्तुष्ट और सुखी रहता है। पुनश्चत, उसके सीधेपन, उसकी सच्चाई तथा मन की सफाई के कारण दूसरे लोग भी उसे आशीर्वाद देते तथा उससे स्नेह करते हैं। अत: सरलचित्त मनुष्य अपने-आपसे भी सन्तुष्ट और सुखी रहता है१

सरल-चित्त व्यक्ति में अन्य लोगों का विश्वास

सरल-चित्त व्यक्ति से लोग न केवल सन्तुष्ट रहते हैं बल्कि उसमें लोगों का विश्वास (ईंगए) बैठ जाता है। वे सरलचित्त व्यक्ति के समीप आना चाहते हैं क्योंकि उसके मन से पवित्रता के वायब्रेशन (न्नैंग्दहे) आते हैं। जो व्यक्ति सरलचित्त न हो, लोग उससे दूर रहते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि यह चालाक (ूॅल्लि म्तनै) व्यक्ति है, न जाने यह किस स्वार्थ से बात कर रहा है। अत: जो व्यक्ति सरलचित्त नहीं हे, उसके बातचीत में आकर्षण नहीं होता। चालाक और ढोंगी मनुष्य अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने की सोचता है परन्तु सरलचित्त मनुष्य कोशिश करता है कि – ''मुझ द्वारा किसी को सुख मिल जाए तो यह मेरे भाग्य हैं।'' अत: लोग उससे स्नेह करते हैं और उसकी वाणी में भी एक विशेष प्रकार की मधुरता होती है।

जिज्ञासु – बहन जी, गुण तो यह भी बहुत ऊंचा है। परन्तु इसे हम धारण कैसे करें – यह थोड़ा और समझा दीजिए।

सरलता प्रभु को बहुत प्रिय है सरलता अन्य गुणों को निमंत्रण देने वाला गुण हे

ब्रह्माकुमारी – जबकि ''सच्चे पर साहिब (परमात्मा) राज़ी होते हैं'' – ऐसी कहावत भी है, तो इससे स्पष्ट है कि यह बहुत बड़ा गुण है कि स्वयं परमात्मा भी उसे आशीर्वाद देते हैं। फिर जबकि सरलचित्त मनुष्य में ही अन्य दिव्य गुणों की धारणा शीघ्र और सहज हो जाती है, तो यह तो गुणों को निमंत्रण देने वाला गुण हुआ।

फिर, एक खूबी यह है कि सरलचित्त मनुष्य में यदि कोई अवगुण अथवा कमी हो जाए तो वह अपने से बड़े किसी को साफ-साफ अपनी अवस्था सुनाकर आगे के लिए कुछ ऐसी युक्तियाँ सीख लेता है जिससे कि उसका अवगुण निकल जाए। परन्तु चालाक मनुष्य सोचता ही रह जाता है कि ''अपनी कमजोरी किसी को बताऊं या न बताऊं, पता नहीं वह व्यक्ति मेरे बारे में क्या सोचेगा...।'' इस प्रकार वह साफ-दिल होकर अपने शिक्षक या सद्गुरु या हितैषी को भी अपनी कमी नहीं बताता; इस-लिए उसका सुधार (म्दीम्) होना मुश्किल हो जाता है। अत: इस गुण को धारण करने में तो बहुत लाभ हैं।

सरलता को धारण करने के लिए युक्तियाँ

इस गुण को धारण करने के लिए एक तो मनुष्य को किसी दूसरे के दोष या अवगुण मन में धारण नहीं करने चाहिए वर्ना मनुष्य का मन मैला हो जाता है और चित्त में वह सरलता और सफाई नहीं रहती। दूसरे, सदा यह याद रखना चाहिए कि हम सब तो एक ही बीज-रूप परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं, इसलिए हम सबकी एक ही फैमिली (ईस्ल्ब्) है और, इसलिए किसी से चालाकी करके क्या लेना है? तीसरे, यह याद रखना चाहिए कि मैं जितना सरल बनूँगा उतना ही भोलानाथ शिव बाबा मुझ भोले पर राज़ी होंगे और मुझे आशीर्वाद तथा मदद देंगे। इसके अतिरिक्त, मैं लोगों से जितना सीधा होकर चलूँगा, उतना ही लोग भी मुझसे सीधे होकर चलेंगे और आज से नहीं तो कल से लेकर अपने मन की बात मुझे साफ-साफ बताया करेंगे। फिर, यह भी तो बात है कि सच का ही दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है और यहभी कहावत है कि – 'सच तो फिर नच' अर्थात् सच्चे व्यक्ति को किसी का भय नहीं होता बल्कि वह सदा खुशी से नाचता रहता हे। जो अधिक चालाक होता है, वह अपने ही फालतू संकल्पों में उलझा अथवा दबा रहता है और उसे ही यम का भय भी होता है क्योंकि वह बनावट, मिलावट, दिखावा आदि बहुत करता है। अत: सदा सुखी, सन्तुष्ट तथा निर्भय और अडोल बनने के लिए मनुष्य को सरलता अवश्य धारण करनी चाहिए और छल-कपट को तथा दोष-दृष्टि को त्याग कर मन-वचन-कर्म से एक होना चाहिए।

छठवाँ दिन –

त्याग, उदारता और सेवा

ब्रह्माकुमारी – कल मैंने सरलता को धारण करने और कुटिलता का त्याग करने की बात आपको कही थी। परन्तु वास्तव में त्याग केवल कुटिलता का नहीं बल्कि कई प्रकार का होता है। जैसे अन्य हरेक दव्य गुण की अपनी विशेषता है वैसे ही त्याग की वशेषता यह है कि यह बहुत महान गुण है, जिसको धारण करने से मनुष्य बहुत ही महान बन जाता है। आज 'संन्यासियों' को लोग 'संन्यासी' कहने के अतिरिक्त 'महात्मा जी' इसलिए कहते हैं कि उन्होंने त्याग किया हुआ होता है। तो जैसे सभी स्थलों में से पर्वत ऊंचा होता हे, सभी योद्धाओं में से महारथी अथवा अतिरथी ऊंचा होता है, वैसे ही सभी गुणों में से त्याग सबसे ऊंचा है और सभी गुणवान व्यक्तियों में से त्यागी सर्व महान होता है। जैसे ऊंचे-ऊंचे पर्वत को देखकर मनुष्य उसके सामने अपने-आपको एक छोटा-सा प्राणी अनुभव करता है वैसे ही सच्चे त्यागी के आगे जाकर मनुष्य स्वयं को एक छोटा-सा व्यक्ति महसूस करता है। इसी कारण ही साधारण लोग 'महात्माओं' के आगे झुकते हैं।

जिज्ञासु – बहन जी, यह तो सही बात है। त्याग करना कोई आसान बात नहीं है; यह पर्वत की चोटी पर चढ़ने या खजूर की चोटी तक पहुँचने-जैसा पुरुषार्थ है१ अत: तयाग करना ही ऊंचा उठना तथा महान बनना है। 'त्याग' तो ऐसा शब्द है जिसे सुनकर ही मनुष्य के सामने 'महानता' का भाव आ जाता है। बहन जी, आप कितने प्रकार के त्याग बता रही थीं ?

स्थूल एवं हद का त्याग बनाम् मानसिक एवं बेहद का त्याग

ब्रह्माकुमारी – पहले तो यह जानना ज़रूरी है कि 'संन्यासी' लोग घर-बार को जो त्याग कर जाते हैं, हमारा अभिप्राय उस त्याग से नहीं है क्योंकि एक तो वह स्थूल त्याग है, दूसरे वह हद का अर्थात् सीमित त्याग है। वह सर्व-श्रेष्ठ तयाग नहीं है। सर्व-श्रेष्ठ त्यागी उस मनुष्य को कहेंगे जो कि घर-गृहस्थ में रहते हुए भी और सभी विषयों और व्यक्तियों के सामने होते हुए भी अनासक्त हो, संसार में कत्रव्य करते हुए भी मोह-ममता से रहित हो, उपराम-चित्त और त्याग वृत्ति वाला हो। संन्यासी लोग तो दैहिक सम्बन्धियों और अपने लौकिक कत्रव्यों को ही छोड़ देते हैं जबकि छोड़ना चाहिए -५ सम्बन्धियों के प्रति मोह को और कत्रव्यों के अभिमान को। इसलिए मैंने कहा था कि उनका त्याग अथवा संन्यास स्थूल है, अर्थात् जो उनका स्थूल घर-दुकान या पत्नी-पुत्र है उनसे ही वे किनारा कर जाते हैं; वे उनके संग रहकर, उनके प्रति दैहिक सम्बन्धों के आभास या भान का त्याग नहीं करते। दूसरी बात यह है कि वे अपने छोटे-से-छोटे घर-घाट का या महल-माड़ी का तो त्याग करते हैं परन्तु वे सारी सृष्टि से ही बुद्धि को हटा (ूम्प् करा) दें, ऐसा वे नहीं करते। इसलिए उनका त्याग सीमित और स्थूल है और रजो-

गुणी या मध्यम संन्यास कहा जाता है। सर्वोत्तम और सतोगुणी त्याग यह है कि मनुष्य संसार में रहते हुए भी अपने को यहाँ का अनुभव न करे अथवा यहाँ कमल फूल के समान रहे।

क्या सतोगुणी त्याग कठिन है?

जिज्ञासु -५ बहन जी, यह तो बहुत बड़ा अन्तर है! आपने जिस प्रकार का त्याग बताया है, वह तो अधिक कठिन है।

ब्रह्माकुमारी – यह कठिन है और नहीं है। संन्यासियों का त्याग तो वैराग्य भाव पर आधारित है। उन्हें तो किसी प्रकार के दु:ख को अनुभव करके या देखकर वैराग्य आता है और वे त्याग कर जाते हैं। उस अवस्था में उन्हें आत्मा और परमात्मा का वास्तविक और पूर्ण ज्ञान नहीं होता। परन्तु, मैं जिस प्रकार के त्याग की चर्चा कर रही थी, वह ज्ञान अर्थात् समझ से तथा पहचान से किया जाता है। समझ से जो कार्य किया जाता है, उसमें अधिक कठिनाई नहीं होती। दूसरी बात यह है कि संन्यासी तो जंगल में जाकर हठयोग आदि करके, लम्बे उपवास आदि करके कई प्रकार से स्वयं को शारीरिक यातनाएं भी देते हैं परन्तु मैं जो परमहंस संन्यास या सहज राजयोग संन्यास बता रही थी, उसमें कोई कष्ट लेने की बात नहीं है, वह तो मन अथवा बुद्धि द्वारा त्याग है। यह आसक्तियों तथा इस सांसारिक इच्छाओं आदि को त्यागने की बात । इसलिए यह एक दृष्टिकोण से तो कठिन नहीं है परन्तु चूँकि यह सूक्ष्म अर्थात् मानसिक है, अत: इसके लिए मेहनत अवश्य करनी पड़ती है।

जिज्ञासु – मन द्वारा कैसी आसक्तियों और इच्छाओं को त्यागना है और कौन-कौन-सा त्याग माना गया है?

कर्मेन्द्रियों के वषयों मे आसक्ति और तृष्णा का तयाग

ब्रह्माकुमारी – सर्वोत्तम अथवा सतोगुणी त्याग में आठ प्रकार के त्याग सम्मिलत हैं। उनमें से सबसे पहला तो कर्मेन्द्रियों के विषयों में आसक्ति, लप्सा, तृष्णा या इच्छा का त्याग है। मनुष्य को कर्मेन्द्रियों द्वारा कत्रव्य तो करना है परन्तु कोई भी वकर्म नहीं करना है और कान-रस, नेत्रा-रस, मुख-रस आदि में नहीं फँसना है। आज मनुष्य खान-पान में आसक्ति तथा सुन्दरता, बनाव-श्रृंगार, गन्दे गीतों आदि के प्रति आकर्षण के वश अर्थात् कर्मेन्द्रियों के वश हुआ रहता है। इससे मनुष्य परतन्त्र रहता है और उसे दु:ख होता है। अत: स्वयं को शरी का न्यासी (ूलेा) मानते हुए, उसे स्वस्थ रखने के लिए भोजन, वस्त्र आदि ग्रहण करते हुए भी मनुष्य की उनमें आसक्ति या तृष्णा न हो, यह तयाग का पहला कदम हे। इसमें कुसंग का त्याग भी समाया हुआ है क्योंकि जब मनुष्य इस बात पर ध्यान देगा कि वह किसी भी कर्मेन्द्रिय द्वारा कोई वकर्म न करे, अर्थात् जब वह खाने-पीने तथा पहनने आदि की तृष्णा छोड़ देगा तो फिर कुसंग में जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में कुसंग के त्याग से ही विकर्मों के त्याग की भावना दृढ़ होती है।

मन द्वारा सम्बन्धों के भान को, वृत्ति द्वारा सम्बन्धों की स्मृति का त्याग

दूसरा त्याग देह के सम्बन्धियों का मन से तथा बुद्धि से त्याग है। देह के सम्बन्धियों के संग में रहते हुए तथा उनसे मेल-मिलाप होते हुए भी मन में उनके प्रति मोह और ममता न आए या उन सम्बन्धों का खिंचाव न महसूस हो या बुद्धि में उनकी याद न सताए – यह है देह के सम्बन्धियों का मानसिक त्याग। सम्बन्धियों से स्नेह होते हुए भी 'माता', 'चाचा' आदि सम्बन्धों के वश होकर होने वाला प्यार न हो बल्कि शुद्ध, नि:स्वार्थ, आत्मिक स्नेह हो। बुद्धि में यह पहचान या जानकारी भले ही हो कि यह मेरे 'चाचा' या 'मामा' या 'दादा' हैं परन्तु उनसे मिलते समय उस सम्बन्ध का आन्तरिक अनुभव न हो, उस सम्बन्ध की नसों, रोमों आदि को अनुभूति न हो, उस दैहिक नाते के भान में हम न आ जाएँ तथा बुद्धि का उसमें झुकाव, टिकाव, अटकाव या खिंचाव न हो।

लोक लाज और निन्दा-स्तुति तथा मान-अपमान का त्याग

तीसरा त्याग लोक लाज का त्याग है। इस कलियुगी संसार की यह रीति है कि जब कोई व्यक्ति अच्छे मार्ग पर चलता है तो लोग उसे 'बुद्धू' मानते, 'बहकाया हुआ' समझते और उससे मज़ाक करते हैं। कोई कहता है कि इसे जादू हो गया है, कोई कहता है कि यह ग़लत जगह फँस गया है और कोई कहता है कि ज्ञान तथा योग-आदि की बातों में क्या रखा है? कोई उनसे पूछता है कि ईश्वर को किसने देखा या पाया है? तुम खामहमखाह फालतू बातों में पड़ गये हो और अन्ध-श्रद्धालू हो और अन्य कोई उसके ज्ञान-योग की प्रणाली को अनेक लोगों के सामने खण्डन करता, उसके बारे में कुछ आलोचना करता या कोई-कोई तो अत्याचार भी करता अथवा विघ्न भी डालता है। परन्तु त्यागी व्यक्ति, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति और आलोचना के भान का भी त्याग कर देता है अर्थात् उन्हें अपने मन में धारण नहीं करता बल्कि जिस उच्च लक्ष्य को उसने अपनाया है, उसके लिये लोक-चर्चा सुनते हुए भी गोया नहीं सुनता। घर-बार में रहते हुए प्रतिदिन इस प्रकार के कटाक्ष और कड़वे वचन तथा बाधाओं को देखते हुए अथवा उनके बीच रहते हुए उनहें मन से ऐसे त्याग देना चाहिए कि वे मन को स्पर्श भी न करें – यह कोई छोटा संन्यास नहीं है।

देह-अभिमान का त्याग

चौथी प्रकार का त्याग देह-अभिमान का त्याग है। घर-बार को एक बार छोड़ कर संन्यासी लोग उससे सदा के लिए अलग हो जाते हैं। घर-बार छोड़ने के बाद उनका घरवालों से कोई लेन-देन, व्यवहार या सम्बन्ध आदि नहीं रहता। घर-बार तथा सम्बन्धी उनकी ऑखों से दूर हो जाते हैं। परन्तु जिस देह में मनुष्य मरते दम तक रहता है, जिस द्वारा वह प्रतिदिन कार्य-व्यवहार करता है, हर क्षण-पल में जस द्वारा वह देखता, सुनता, बोलता आदि है, उस देह के नित्य संग रहने पर भी उससे असंग रहना – यह बड़ा गहन त्याग है। जन्म-जन्मान्तर से स्वयं को देह मानने का संस्कार मनुष्य पक्का कर चुका है।

''मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, युवक हूँ, वृद्ध हूँ, फलाँ व्यक्ति का बालक हूँ'', आदि-आदि बातें, जो कि देह-अभ्यास पर आधारित हैं, वह दिन में हज़ार बार करता है। अब इसी देह तथा देह-भान को भूलना और स्वयं को एक अकेला आत्मा मानना, जब चाहें शरीर को ढीला छोड़कर, कर्मेन्द्रियों को त्याग कर (समेट कर, कर्म से हटा कर) आत्मा-भाव में स्थित होना – यह राजयोग संन्यास है। मरने के बाद तो सभी आत्माएं शरीर को त्याग जाता ही हैं, परन्तु जीते-जी देह-भान का त्याग करना, अर्थात् सही अर्थ में 'मरजीवा'बनना – यह बहुत विचित्र त्याग है! इस त्याग में तो बुद्धि द्वारा सारे विकारी संसार का त्याग समाया हुआ है क्योंकि जब मनुष्य देह को ही भुला देता है और आत्मिक समृति में स्थित हो जाता है, तब तो मानों वह सारे संसार का त्याग कर देता है। सचमुच देह-अभिमान का त्याग अर्थात् जिस देह को हमने धारण किया हुआ है, उससे न्यारे होकर रहना अर्थात् उसमें भी आसक्ति एवं मोह का त्याग करना गोया त्याग की उचच पराकाष्ठा पर पहुँचना है। संन्यासी लोग तो वस्त्र का त्याग कर देते हैं और कई तो बिल्कुल दिगम्बर अथवा नंगे होकर भी रहते हैं। आम लोग इसे बहत उच्च कोटि का तयाग मानते हैं। परन्तु वास्तव में आत्मा का जो शरीर रूपी चोला अथवा वस्त्र है, उससे आत्मा को अलग (ूम्प्) रखना – यही सर्वोच्च कोटि का संन्यास है, न कि रूई के बने कपड़ों से अलग रहना। दैहिक कुल की आयु, पोज़ीशन, जाति आदि के अभ्यास, आभास अथवा भान का त्याग करके हरदम आत्मिक समृति में स्थत रहना और दूसरों को भी आत्मिक दृष्टि से भाई-भाई के सम्बन्ध से देखना – यह कमाल का संन्यास है।

अशुद्ध संकल्पों का और विकल्पों का त्याग

पाँचवाँ त्याग व्यर्थ आवा अशुद्ध संकल्पों का त्याग है। इस त्याग की तो बहुत ही ऊंची स्टेज है। किसी के अवगुण को देखते हुए भी उसे अपने मन में टिकने न देना, किसी के दोष का पता चलने पर या किसी की शिकायत मिलने पर भी उसे चित्त पर न धरना; पुराने एवं उल्टे संकल्पों का सेंवन न करना, अज्ञान-काल की दृष्टि-वृत्ति और रीति-नीति का त्याग करना, व्यर्थ संकल्पों में रमण करने का भी त्याग करना – यह परम शान्ति को देने वाला परमहंस त्याग है। इसमें ही सभी अशुद्ध इच्छाओं, वास-नाओं और तृष्णाओं का भी त्याग समाया हुआ है। भक्ति मार्ग में तो मनुष्य मन्दिर से लौअने के बाद फिर अशुद्ध संकलपों और विषयों में पड़ जाते हैं और संन्यास मार्ग में वे वषयों से दूर रहकर इच्छाओं का दमन करते हैं परन्तु इस ईश्वरीय मार्ग अथवा परमहंस मार्ग में वषयों और पदार्थों से घिरे हुए होने पर भी उनके लिए इच्छा मात्रा का (ज्ञान के आधार पर) त्याग करना तथा उनसे उपराम रहना – यह कैसा बड़ा त्याग है१

सब आधारों का त्याग

छठवाँ त्याग सर्व सांसारिक आधारों का त्याग हे। मनुष्य ने संसार में कई आधार बना रखे हैं। कोई

सोचता है कि मेरा मित्र केन्द्रीय सरकार में फलाँ बड़े पद पर नियुक्त है और कल को मुझ पर यदि सरकार की ओर से कोई कठिनाई आई तो मैं उसका आधार ले सकता हूँ। अन्य कोई समझता है – ''मेरे तो तीन पुत्र हैं, सब धन कमाने वाले और स्वस्थ हैं, वे मेरी वृद्धावस्था के आधार हैं।'' इस प्रकार, किसी ने कुछ और किसी ने कुछ का आधार बना रखा है जिसके सहारे पर वह जीता है या एक सहायता की आशा बाँधे बैठा है। परन्तु जो सर्वस्व त्यागी होता है, वह एक आत्मिक बल और ईश्वर के भरोसे पर टिका होता है। उसका आधार एक परमपिता परमात्मा और उसका दिया हुआ दिव्य न, योग तथा दिव्य गुण होता है। वह तो स्वयं को ईश्वरार्पण मानता है और, इसलिए, अपने शरीर को भी अब अपना न मानकर प्रभु की धरोहर या ट्रस्ट (ऊ्रेू) मानता है। अत: यद्यपि वह संसार के अनेक व्यक्तियों के सहयोग से कार्य करता है परनतु उसका योग एक परमपिता शिव से ही रहता है, उसका निश्चय उस एक सर्व-समर्थ प्री में ही अटूट रीति से बना रहता है। संन्यासी लोग सब कुछ त्याग कर कम-से-कम अपने तन पर धारण किया हुआ भगवा वस्त्रा तो अपना समझते हैं या कोपीन और दण्ड को तो अपना मानते हैं। फकीर भी अपने हाथ में ली हुई लाठी को तो अपनी चीज़ मानते हैं। परनतु परमपिता शिव ने जो सतोप्रधान त्याग सिखाया है, उसके अनुसार चलने वाले तो सम्पूर्ण रीति से प्रभु-अर्पण होना ही वास्तविक त्याबग मानते हैं और अपना सब-कुछ प्रभु द्वारा मिली हुई अमानत समझकर चलते हैं। वे और संगों का त्याग करके एक सत्य का संग करते हैं। ''और संग तोड़, एक संग जोड़'', अथवा ''मामेकं शरणं ब्रज'' – इस प्रभु-आज्ञा का पालन करते हुए वे सर्वस्व त्यागी बनते हैं।

बुद्धि के अभिमान का त्याग

सातवाँ त्याग अपनी बुद्धि के अभिमान का त्याग है। आपने देखा होगा कि संन्यासी लोग घर-बार आदि सब-कुछ त्याग कर अपनी पण्डिताई का, विद्वता या शास्त्रीय ज्ञान का अथवा अपनी तर्कशीलता या बुद्धि का अभिमान करने लगते हैं। यदि कोई उनकी बात न माने तो उन्हें क्रोध आ जाता है क्योंकि वे अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ समण्ते हैं। वे सब कुछ छोड़कर भी 'श्री-श्री १०८ जगद्गुरु' की उपाधि को तथा मान-शान को स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार वे अपने त्याग पर पानी फेर देते हैं। अत: बुद्धि का त्याग ज़रूरी है। बुद्धि के त्याग का यह अर्थ नहीं कि हम अन्ध-श्रद्धालु बन जायें, बल्कि इसका अर्थ यह है कि हममें स्वयं को दूसरों से अधिक बुद्धिमान मानने का जो भान है या सूक्ष्म रूप में जो नशा है कि ''मैं बहुत ही समझदार हूँ'', इसका हम त्याग करें और स्वयं को एक विद्यार्थी और पुरुषार्थी मानें।

आठवाँ त्याग एक विचित्र प्रकार का त्याग है१ आप जानते होंगे कि कुछ लोग सब प्रकार का त्याग करने के बाद अपने कुछ अधिकार जतलाते हैं। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि एक व्यक्ति ने अपना सर्वस्व किसी ईश्वरीय सेवा के लिए त्याग दिया है। अब वह जिन लोगों के पास रहता है, उनसे

उसे खान-पान या निवास की बढ़िया सुविधा नहीं मतिली तो वह बिगड़ कर कहता है – ''यह बहुत खराब बात है! मैंने इतना त्याग किया है, आप लोग मुझे केवल यह सुविधा भी नहीं देते ? क्या मेरा इतना भी अधिकार नहीं है कि मैं कम-से-कम एक विशाल सभागृह और अच्छा खान-पान ले सकूँ ?..... स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति ने जो त्याग किया है, उस त्याग के अभिमान को उसने नहीं त्यागा है। अत: सर्वोत्तम त्याग वह है जिसका मनुष्य अपने मन में अभिमान न करे और मुख से गायन न करे और उस त्याग के बदले में इसी संसार में कुछ स्थूल वस्तु पाने को उत्सुक अथवा व्याकुल न रहे। उसे यदि किसी सुविधा अथवा वस्तु की आवश्यकता हो तो वह आवश्यकता दूसरों को बता तो दे ताकि यदि सम्भव हो तो वे उसके लिए व्यवस्था करें, परन्तु वह त्याग के आधार पर अपना अधि-कार न जतलाए। 'त्याग' का महत्व बतलाने के लिए वह चाहे तो त्याग का वर्णन करे या दूसरों को त्याग का प्रैक्टिकल उदाहरण देने के लिए ले ही अपना उदाहरण भी दे, परन्तु उसका वर्णन करते समय वह उस त्याग के आधार पर अपने मन में दूसरों से प्रशंसा या मान की इच्छा न करे, न ही उसके मन में अपने पुरुषार्थ की बड़ाई का सूक्ष्म भाव हो। यदि त्याग के कारण लोग उसकी प्रशंसा करें और उसे मान दें तो भी वह उसे मन से स्वीकार न करे।

ये आठ प्रकार का त्याग जो करता है, वही सम्पूर्ण रूप से प्रभु का होता है और प्रभु भी सम्पूर्ण रूप से उसका होता हे। वही सम्पूर्ण शान्ति और आनन्द को प्राप्त करता है।

जिज्ञासु -५ बहन जी, मैं त्याग की इस मधुर चर्चा को सुनते हुए ही एक अलौकिक सुख का और सच्ची शान्ति का अनुभव कर रहा था; तो जो लोग प्रैक्टिकल रीति से पूर्ण त्याग करते हैं, उनकी आनन्दानुति का तो कहना ही क्या! जब उनके मन में कोई अवगुण-दुर्गुण, अशुद्ध संकल्प-वकल्प या देह और संसार की स्मृति ही नहीं रहेगी तो निश्चय ही वे शान्ति के झूले में झूलते होंगे। सर्वस्व त्याग की अवस्था का तो अनुमान लगाकर भी मुझे आत्मिक सुख मिल रहा है; अत: उस स्थिति को प्राप्त करने से तो निस्सन्देह खुशी का पारावार न रहेगा। अत: बहन जी, मुण् ऐऐ सर्वस्व त्यागी के लक्षण भी बताइये और उच्च कोटि का त्यागी बनने का पुरुषार्थ भी समझाइये ताकि मैं त्याग के वषय को गहराई से जान कर इसे अपनाऊं। जो मनुष्य त्यागी नहीं होता उसके चिह्न भी मुझे समझाइये।

बुद्धि का अभिमान त्याग करने वाले के लक्षण

ब्रह्माकुमारी – जिस मनुष्य ने बुद्धि के अभिमान का त्याग नहीं किया होता, वह बात-बात में कहता है – ''अजी मैं सब समझता हूँ। आप लोगों ने मुझे क्या समझा है, मैं कोई अनजान हूँ?'' बुद्धि के अभि-मान को न त्यागने वाला व्यक्ति अपने हरेक बात को सिद्ध करने की कोशिश करता है; वह अपनी ही बात पर ज़ोर देता, उसे खूब स्पष्ट (र्ज्ञेह) करता और मनवाने की कोशिश करता है, लोगों के न मानने पर उनसे बिगड़ जाता तथा उन्हें बेवकूफ बताता और दूसरों की बात पर कम ध्यान देता है। यदि

उसकी बात कुछ समय के बाद ठीक निकल आये तो वह लोगों को यह कह कर जतलता है कि – ''मैंने तो आपको पहले ही कहा था परन्तु आप लोग मानते ही नहीं थे!'' जिसने अपनी बुद्धि का अहं-कार न त्यागा हो, वह अपनी बात मनवाने की जिद्द करता, दूसरों की बात को कम मान्यता देता, अपनी बात की पुष्टि में दूसरों के हवाले देता और अड़ा रहता है और इस प्रकार मतभेद की स्थिति पैदा करके कलह-क्लेश तथा लून-पानी (अनबन का भाव) फैलाता है और, इस प्रकार लोक-संग्रह के विरुद्ध कार्य करता है। जिसमें जितना ही बुद्धि का अभिमान है, वह उतना ही नाम और मान का भूखा है वह जो कर्म करता है, उसमें लोक-कल्याण की भावना तथा सेवा का भाव कम और नाम, मान अथवा प्रसिद्धि की भावना अधिक रखता है। नाम और मान मिलने पर तथा वाह-वाह होने पर वह खुश हो जाता है और नाम या यश न होने पर उसका स्वभाव, लहजा अथवा मूड (श्दद्) बदल जाता है, सह-योग घट जाता है और सम्बन्ध बिगड़ जाता है। सब प्रकार का त्याग करने के बाद यदि मनुष्य ने बुद्धि के अभिमान का त्याग नहीं किया तो उसका यह अभिमान शेष सभी प्रकार के त्याग को ढक लेता है अथवा लोगों की नज़रों में छिपा देता है और, इसलिए, लोगों के मन में उसकी महानता नहीं रहती।

बुद्धि के अभिमान का त्याग कैसे हो?

जिस मनुष्य में इस प्रकार अपनी बुद्धि का अहंकार हो, उसे सोचना चाहिए कि – ''मेरी बुद्धि तो बिल्कुल उल्टी थी। मेरी बुद्धि को तो अब परमपिता परमात्मा शिव ने सुल्टा किया है। मेरी बुद्धि तो तमोप्रधान अथवा आसुरी थी। दिव्य बुद्धि के दाता पारसनाथ परमपिता शिव ही अब मेरी बुद्धि को लोहे से पारस बना रहे हैं। परमात्मा ही तो बुद्धिमानों की बुद्धि हैं अथवा सुधि-बुद्धि देने वाले हैं, उन्होंने ही तो मुण् यह ईश्वरीय ज्ञान अथवा ठीक समझ दी है। तो क्या जैसे एक चूहा, हल्दी की एक गाँठ मिल जाने पर स्वयं को पंसारी मानने लगता है, मैं वैसे ही थोड़ा-सा ईश्वरीय ज्ञान मिलने पर स्वयं को बहुत ज्ञान-वान मानने लग गया हूँ.....मुझे तो मरजीवा बनना है अर्थात् जीतेजी सब कुछ पिछला भूलकर अब शिवबाबा से नया जन्म लेता है। यदि मैं बुद्धि को शिव बाबा के हवाले न करूँगा तो वह उसे पारस कैसे बनायेगा, उसमें बल कैसें भरेगा? यदि मैं अपनी ही बुद्धि के अहंकार में रहूँगा तब बुद्धि बदलेगी कैसे और इसमें वृद्धि कैसे होगी? अत: मुझे तो बुद्धि के भी अपनेपन का त्याग करना है और पूर्ण रीति से श्रीमत पर चलना है, अर्थात् शिवबाबा द्वारा मिले ज्ञान और दिव्य मर्यादा के अनुसार कर्म करना है। मैं स्वयं तो अभी सम्पूर्ण हूँ नहीं बल्कि अभी तो थोड़ा ही सीख पाया हूँ। मेरी अपनी बुद्धि से तो मेरा कल्याण हुआ नहीं, वर्ना मैं तमोप्रधान अवस्था को क्यों प्राप्त होता? अत: अब शिव बाबा कहते हैं कि – अब अनपढ़ बनो और चुप रहो अर्थात् जो-कुछ पहले मनुष्यात्माओं द्वारा पढ़ा या सीखा है (जिसका अब आपको अभिमान भी है), उसे भूल जाओ और अब मैं जो कुछ पढ़ाता हूँ, अब पढ़ो। इसके अतिरिक्त, अब अपनी पिछले देह-अभिमान की पढ़ाई के आधार पर मेंढ़कों-जैसी टर्र-टर्र न

करो, अभिमान की बातें मत करो, बल्कि चुप रहो, मन को भी चुप कराओ। मन से सांसारिक संकल्पों को त्याग कर अब मुझ द्वारा कल्याणकारी ज्ञान पढ़ो और 'मैं....फलाँ पढ़ाई पढ़ रहा हूँ, अमुक विद्या सीखा हूँ, ऐसा अनुभवी हूँ, वैसा जानता हूँ' – अब यह मिथ्या अभिमान छोड़ कर बुद्धि का संग और तरफ से हटाकर एक मुझसे जोड़ो।'' इस प्रकार शिव बाबा की शिक्षा को याद करके तथा बुद्धि के अभिमान को, जिद्द को तथा अड़ियल स्वभाव को रावण के सिर पर के गधे का सिर मान कर हमें इसका त्याग करना चाहिए क्योंकि यह मनुष्य को असुर बनाने वाला, रावण के समान राम से विमुख एवं विपरीत बनाने वाला और विनाश की ओर ले जाना वाला अवगुण है।

जिज्ञासु – बहन जी, अपनी इस तुच्छ बुद्धि का अभिमान करना – सचमुच यह है तो बुरी बात! अपनी इस चंचल और जिद्दी बुद्धि ने ही तो हमें परेशान किया है और गिरावट के गड्ढ़े में डाला है। यदि अब भी हम इस बुद्धि को बे-लगाम छोड़ देंगे तो हमारा क्या हाल होगा? सचमुच, इसका तो अवश्य त्याग करना चाहिए।

बुद्धि के अभिमान का त्याग करने से ही दूसरे दिव्य गुण भी धारण होंगे

ब्रह्माकुमारी – हाँ, जब मनुष्य अपनी बुद्धि का अभिमान छोड़कर इस ईश्वरीय पढ़ाई को नियमपूर्वक पढ़ता है और बुद्धि की डोर अथवा लगाव परमपिता शिव के हाथ में दे देता है तो उसमें दूसरे सद्गुण भी आने लगते हैं। जैसे पतंग की डोर हाथ में होने से पतंग सम्भाला जा सकता है, वैसे ही जिस आत्मा की बुद्धि की डोर एक परमात्मा के हाथ में हो उसे माया रूपी हवा के तेज झोंकों में भी सम्भाला जा सकता है और सीधा रखा जा सकता है वर्ना तो वह कहीं की कहीं जाकर गिर पड़ती है अथवा टूट जाती है। अत: सब प्रकार के त्याग को सुगम बनाने के लए पहले तो ''मैं-मैं''का त्याग और अपनी समझ को बड़ा मानने की आदत का त्याग करके स्वयं को एक विद्यार्थी (र्थीही) मानना जरूरी है तथा परमपिता परमात्मा से प्रीत-बुद्धि होना जरूरी है वर्ना विपरीत-भाव का त्याग न करने वाले का नाश निश्चित है! जिस मनुष्य ने बुद्धि का अभिमान त्याग दिया होगा उसे तो समझाना सहज है परन्तु जो स्वयं को ही सम्पूर्ण या समझदार मानता होगा, वह तो हरेक बात में कहेगा – 'अजी मैं सब जानता हूँ। आप आये हैं मुझे बताने के लिए! आप जैसे कइयों को तो मैंने पढ़ा डाला है।'' बुद्धि के अभिमान वाले मनुष्य को तो कोई संशोधन (ण्दीमूदह)देना मुश्किल होता है क्योंकि वह ''पढ़ा-लिखा बेवकूफ'' होता है। वह सब बात जानते हुए भी उस पर नहीं चलता और ऐसे रोब से रहता कि दूसरा उससे बात करने में भी झिझकता है क्योंकि ऐसा अभिमानी व्यक्ति अपने प्रति कोई शिक्षा सुनते ही बतलाने वाले पर बिगड़ जाता है। अत: जबकि बुद्धि का अभिमान ऐसी बुरी चीज़ है कि मनुष्य को कुछ सीखने-समझने भी नहीं देता तो इसे तो ऐसा ग़हरा खोद कर दबाना चाहिए कि फिर यह निकल न सके ताकि यह फिर मन में तैर कर ऊपर न आ सके। यह अभिमानी और चंचल बुद्धि ही तो यम का भय दिलाने वाली है,

इसी ने ही तो मनुष्य को बन्दर बनाया है, तो क्या हम अपने बन्दरपन का त्याग करने में भी आनाकानी करते हैं! इस बुद्धि के अभिमान ने ही हमारी हरेक रग को ऊंट की तरह टेढ़ा किया है। हमारी पीठ को भी टेढ़ा किया है, गर्दन को भी और टाँग को भी। अर्थात् हमारी बोल-चाल, चाल-ढाल – सबको बिगाड़ा है। अब भी यदि हम इस टेढ़ी चाल को नहीं छोड़ेंगे तो स्वर्ग में नहीं जा सकेंगे क्योंकि स्वर्ग में तो ऐसे ऊंट नहीं होते!

जज्ञासु – बहन जी, मेरी बुद्धि तो अब एक प्रभु ही का संग करेगी और मैं प्रभु ही के श्रेष्ठ मत अथवा श्री-मत पर चलूँगा। अब निश्चित रूप से मन-मत पर अथवा अपनी बुद्धि का अभिमानी होकर नहीं चलूँगा बल्कि इस अभिमान का त्याग करूँगा। परन्तु यह बताइये कि हम देह-अभिमान का त्याग, देह के सम्बन्धों का मन से तयाग और कर्मेन्द्रियों के विषयों आदि में आसक्ति का त्याग कैसे करें?

कर्मेन्द्रियों के विषयों में आसक्ति एवं देह-अभिमान का त्याग कैसे हो?

ब्रह्माकुमारी – क्या यह भी अभी तक कोई पूछने की बात है? आप जानते हैं कि यह कलियुगी संसार बिल्कुल ही असार है। जब गन्ने में से रस निकल जाता है तो क्या उसका छिलका चूसरे जैसा रहता है? इसी प्रकार, अब तो इस संसार में सत् अथवा सत्य रहा ही नहीं, इसमें रस तो रहा ही नहीं, यह तो तमोप्रधान हो गया है। जैसे नीरस गन्ने के छिलकों को चूसना गोया अपने ही जबड़े खराब करना हे, वैसे ही अब तो इस संसार के पदार्थ भी दु:खदायक हो गये हैं। इनमें रखा ही क्या है? इसी प्रकार यह जो देह है, इसमें भी कई रोग लगे हुए हैं। यह तमोगुणी प्रकृति का बना हुआ है और काम विकार से पैदा हुआ – हुआ 'छी-छी' है। अत: इस गन्दे अथवा पतित देह का अभिमान करना या कर्मेन्द्रियों के तमोप्रधान, निस्सार विषयों के पीछे आसक्त होकर स्वर्गिक राज्य-भाग्य गँवाना तो निरी मूर्खता है। इस मिट्टी के पींछे पड़कर जीवनमुक्ति को गँवाना और धर्मराज के फांसी के तख्ते पर उल्टका लटकने की तैयारी करना है – क्या यह बुद्धिमत्ता है? नहीं! अत: कर्मेन्द्रियों के विषयों में आसक्ति को या तृष्णा को एक धक से छोड़ना चाहिए वर्ना यह तो अपने हीरे-तुल्य जीवन को कौड़ियों के बदले गँवाने जैसी बात है।

देह-अभिमान के अनेक रूप

परन्तु यह मालूम रहे कि देह-अभिमान भी कोई एक रूप धारण करके नहीं आता। इसके अनेक रूप हैं। देह-अभिमानी का एक लक्षण तो यह है कि वह देह रूपी हद का अभिमानी होने में हरेक बात में हद में ही फँसा हुआ होगा। उदाहरण के तौर पर वह अपने ही लौकिक घर तथा सम्बन्धियों में ही सारा दिन फँसा रहेगा। ''यह सारा संसार मुझ आत्मा का घर है, सभी आत्माएँ मेरे भाई हैं, इन सबके प्रति मेरा कुछ कत्रव्य है'' – यह बात उसके चाल-चलन में दिखाई नहीं देगी बल्कि प्रात: से लेकर सायंकाल तक वह अपनी ही छोटी-सी गृहस्थी की सेवा में तथा अपने ही पालन-पोषण में (वह भी दैहिक दृष्टि को

लेकर) जुटा रहेगा। तन से, मन से, धन से मुझे आत्मिक उन्नति के लिए भी कुछ करना है, यह जो मेरा विश्व रूपी बड़ा कुटुम्ब है, उसके प्रति भी मेरा कुछ कर्तव्य है – इससे वह बिल्कुल ही विमुख होगा। इसके ऊपर उठकर यदि उसे थोड़ा आत्मिक ज्ञान हुआ होगा तो फिर वह जिस सत्संग अथवा ईश्वरीय शिक्षा केन्द्र पर जाता अथवा रहता है, वहाँ तक ही उसकी बुद्धि सीमित होगी। वह दूसरे, ईश्वरीय शिक्षा-केन्द्रों को अपना और अपने केन्द्र को उन सबका नहीं समझेगा बल्कि एक सीमा बनाकर, दीवारें खड़ी करके उनमें घिरा रहेगा। अत: दूसरों से मिलने-जुलने, सहयोगी होकर कार्य करने तथा एक-दूसरे के कार्य को अपना समझने में उसे संकोच होगा या यह बात उसे अच्छी ही नहीं लगेगी। ''यह मेरा, वह तेरा'' – इस प्रकार का बंटवारा करने वाला मनुष्य कभी भी बेहद खुशी तथा बेहद का ईश्वरीय वर्सा अथवा सतयुगी सृष्टि का बेहद राज्य प्राप्त नहीं कर सकता। हद में रहने वाला तथा हदें बाँधने वाला व्यक्ति हद का ही राजा बनता है, वह अखण्ड स्व-राज्य का मालिक कैसे हो सकता है? अत: इस प्रकार देह-अभिमान के वश में होकर हद में रहना गोया हद का पुरुषार्थ करना और हद की ही प्रापति का भागी बनना है – यह समझ कर मनुष्य को ऐसा देह-अभिमान त्याग देना चाहिए। सबसे पहले अपने देह की तरफ जो उसका सारा ध्यान और सारा कर्म रहता है, उस हद से निकल कर तथा देह के सम्बन्धियों पर ही सारा जीवन लुटाने की हद-बन्दी से निकल कर मनुष्य को लोक-कल्याणार्थ भी तन, मन, धन और समय लगाने में तत्पर होना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, समझना चाहिए कि उसने देह-अभिमान का त्याग नहीं किया, न ही दैहिक सम्बन्धियों के प्रति ममत्व का मानसिक त्याग किया है। ऐसे मनुष्य का मन बार-बार अपने घर और सम्बन्धियों की ओर भागता होगा क्योंकि अभी उसने मोह का त्याग या ममत्व का संन्यास नहीं किया। तो समझना चाहिए कि ईश्वर से तथा ईश्वरीय परिवार से उसका आत्मिक नाता तथा प्यार उसमें दिखाई नहीं देता, इसलिए इस अन्तम जन्म में भी यह छोटा-सा त्याग न करने के कारण यह बेचारा कमबख्त बन रहा है, स्वयं को भविष्य में ईश्वरीय वर्से तथा दैवी परिवार से जान-बूझकर वंचित रह रहा है!! देख लीजिए, यह देह-अभिमान कितना हानिकारक है। इस प्रकार स्वयं को समझा कर, अब चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ क्यों न आयें, देह, देह के सम्बन्धों आदि से स्वयं को कुछ अवकाश देकर अपने आत्मिक कल्याण तथा दूसरों की भी आत्मिक सेवा के लिए कुछ करना चाहिए और जितना प्यार दैहिक मित्र-सम्बन्धियों से, पुत्रों या पिता से है, उससे अधिक प्यार परमपिता परमात्मा से तथा अपने अलौकिक परिवार से होना चाहिए। अब परमात्मा से यदि पुत्र रूप से सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे अर्थात् उसे अपने सर्वस्व का अधिकारी नहीं बनायेंगे (जैसे कि कोई पिता अपने पुत्र को उत्तराधकारी बनाता है), तो आप परमात्मा की अतुल सुख-राशि के अधिकारी कैसे बनेंगे?

लोक-लाज आदि के त्याग की युक्ति

इसी देह-अभिमान के ही विभिन्न रूप लज्जा, लोक-लाज, संकोच, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान या जय-पराजय से प्रभावित होना आदि हैं। यदि मनुष्य देह-अभिमान का त्याग करके इस स्मृति में स्वयं को स्थित करे कि – ''मैं तो एक ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ, मैं तो सर्वशक्तिवान, त्रिकालदर्शी, कल्याण-कारी शिवबाबा की मत पर चल रहा हूँ। अत: मैं ठीक मार्ग पर चल रहा हूँ'', तो न उसे लोक-लाज सतायेगी, न वह निन्दा से प्रभावित होगा।

अशुद्ध संकल्पों और विकल्पों के त्याग की युक्ति

इसी प्रकार, मनुष्य के मन में जो अनेक प्रकार की इच्छाएं या तृष्णाएं उठती हैं या संकल्प-विकल्प आते हैं, उनका भी त्याग करना चाहिए। यह पुरुषोत्तम संगमयुग का जो थोड़ा-सा अनमोल समय हे, यदि यह अशुद्ध संकल्पों-विकल्पों तथा इनके साथ घोर युद्ध करने में ही व्यतीत हो गया तो फिर अती-न्द्रिय सुख अनुभव करने तथा विकारों पर विजय का सुख अनुभव करने की घड़ी कब आयेगी ? इन संकल्पों-विकल्पों को ढील देने से ही वह हमारे मन में प्रतिदिन आने वाले, नहीं-नहीं मिनट-मिनट के बाद नया-नया रूप धारण करके आने वाले अतिथि (न्नेग्दै) हो गये हैं जो कि हमारी अविनाशी कमाई का सारा समय और हमारा मनोबल नष्ट करते जा रहे हैं। अत: इनको ब्रेक लगानी चाहिए। जबकि आपने अपना मन प्रभु को दे दिया तो आप इन असुरों को क्यों आने देते हैं ? जबकि आपने इन विकारों तथा अशुद्ध संकल्पों-विकल्पों को प्रभु को दे दिया है अथवा आप बलि चढ़ चुके हैं तो आप इस दी हुई वस्तु को या दान को वापस क्यों लेते हैं ? दान वापस लेने वाला तो चण्डाल बनता है। अत: इस प्रकार इन पर कड़ी दृष्टि रखते हुए अब इन्हें भी अपने मन में घुसने नहीं देना चाहिए क्योंकि त्याग या संन्यास करने के बाद त्याग की हुई वस्तु को ग्रहण नहीं किया जाता।

और यदि आपने इनका त्याग ही नहीं किया तो जरा सोचिये कि आप इनका कब त्याग करेंगे या इनका त्याग करने का विचार ही नहीं है ? यदि इनका त्याग नहीं करोगे तो क्या इन्हें परमधाम अपने साथ ले जाओगे ? वहाँ तो इन्हें साथ ले जाया ही नहीं जा सकता क्योंकि वह तो संकल्पों-विकल्पों से न्यारी, एकदम पवित्र, बिल्कुल शान्त और शुद्ध दुनिया है! फिर भी तो इसी दुनिया में और इसी चोले में रह-कर ही इन्हें छोड़ना होगा ? तो जो चीज़ आदि-मध्य-अन्त दु:ख देती है, उसे छोड़ने में आपका हृदय क्यों विदीर्ण होता है ? कब तक आप इस गन्दगी को अपने अन्दर पाल कर बढ़ाते रहेंगे ? बाहर से अच्छा बन-ठन कर रहना और अन्दर में यह गन्दगी भर कर रखना – यह भला क्या सोचा है ? यह काम आज ही न करके कल पर क्यों छोड़ दिया है ? कया आपने कल तक जीवित रहने की गारण्टी ली हुई है ? इन संस्कारों और अशुद्ध संकल्पों से पूरी तरह छुटकारा पाने में तो समय लगता है; अत: यदि इसी क्षण से लेकर पुरुषार्थ शुरू न किया और काफी समय तक पवित्र संस्कारों तथा शुद्ध संकल्पों में न रहे तो पवित्रता की धारणा पक्की कैसे और कब होगी ? यदि आप अब ही और यहाँ ही

इस ज्ञान तथा योग के ज़ोर से अपने आपको इनसे नहीं छुड़ायेंगे तो महाविनाश के बाद धर्मराज ही आपको इनसे छुड़ायेगा क्योंकि अब परमात्मा तो पवित्र दुनिया स्थापित करने के लिए, इन गन्दे संकल्पों-विकल्पों से निवृत दुनिया स्थापित करने के लिए और आत्माओं को पवित्र सृष्टि (परमधाम) में ले चलने के लिए आया है और वह तो अपना कार्य पूरा करके ही रहेगा। अत: यदि आप उसके मत पर चल कर इनका त्याग करोगे तो त्याग के फलस्वरूप आपका भाग्य बनेगा और ईश्वरीय कार्य में सहयोग के फलस्वरूप राज्य-पद मिलेगा और यदि अपनी राजी-खुशी से यह पुरुषार्थ नहीं करोगे तो वष्य में भी पद-भ्रष्ट होवोगे, यहाँ भी अतीन्द्रिय सुख (जिसका इतना गायन है) से वंचित रहोगे और धर्मराज से दण्ड भी भोगेगे। अत: अब आप अपनी किस्मत का फैसला कर लो वर्ना सोचने और रुके रहने में ही यदि समय हाथ से निकल गया तो फिर तकदीर बनाने का अवसर (र्ण्हम) नहीं रहेगा और पछताना पड़ेगा। क्या इतनी बड़ी प्राप्ति के लिए यह छोटा-सा त्याग जो कि आप ही के लाख गुणा फायदे के लिए है, नहीं कर सकते ? क्या इतना सस्ता सौदाभी करना नहीं जानते ? देखो, इनके त्याग से ही वर्तमान समय भी निस्संकल्पता, निर्विकल्पता, कर्मातीत अवस्था, अव्यक्त अवस्था और अतीन्द्रिय सुख मिलेगा और भविष्य में भी बादशाही मिलेगी।

ज्ञान से निश्चय, निश्चय से तयाग, त्याग से प्राप्ति

इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर आठों प्रकार का त्याग, जो कि मैंने आज आपको बताया है, करना सहज होगा। यदि यह ईश्वरीय ज्ञान ही नहीं या उस ज्ञान में निश्चय नहीं तो त्याग भी नहीं हो सकता और यदि त्याग नहीं तो प्रापति भी नहीं हो सकती। इस प्रकार, मनुष्य को अपने मन में पहले टटोलना चाहिए कि मुझे इस ईश्वरीय ज्ञान में पूर्ण निश्चय है ? यदि निश्चय में ही कमी है तो त्याग में, पुरुषार्थ में और प्राप्ति में भी कमी रहेगी। अत: पहले तो न की नींव को सुदृढ़ करके निश्चय को पक्का करना चाहिए, तभी बुद्धि भी विशाल होगी, चित्त भी उदार होगा और मन ऐसे त्याग कर देगा जैसे कुछ किया ही नहीं है क्योंकि तब बुद्धि मन को समझायेगी कि यह त्याग वास्तव में त्याग नहीं बल्कि ये तो जन्म-जन्मान्तर और कल्प-कल्पान्तर के लिये करोड़ गुणा अधिक प्राप्ति करने की युक्ति है। क्योंकि यह त्याग डायरेक्ट ईश्वर के मत पर और उसके प्रति है, इसलिए इस अविनाशी पिता अथवा अतुल सुख के दाता से तो कई गुणा होकर मिलेगा ही – यह एक नियम है। अत: ज्ञान होने पर यह 'त्याग' नहीं मालूम होगा बल्कि भविष्य के लिए तोशा बनाना, ट्रांसफर (ऊँहीं) करना और कई गुणा करके लेने का साधन अपनाना लगेगा और हृदय विदीर्ण होने या मन घबराने की बजाय बहुत ही खुश होगा। यह त्याग ऐसा प्रतीत होगा जैसे किसी चीज़ का एक कण देकर, उसकी अपार राशि लेना अथवा अनायास ही एक रुपये की टिकट लेकर पद्मापद्म रुपयों की लाटरी (थ्द्रीब) प्राप्त करना अथवा ठिक्कर देकर ठाकुर बनना है।

सर्वस्व त्यागी कि लक्षण

इस प्रकार जो सर्वस्व त्यागी बनेगा, वह हदों और दीवारों से ऊपर उठा होगा। भक्ति मार्ग के लोग जब पितरों आदि को जल की अंचलि देते हैं तो कहते हैं ''सर्व आत्माओं के कल्याण के लिएउ।'' परन्तु सर्वस्व तयागी का तो सारा प्रैक्टिकल जीवन ही सर्व आत्माओं के लिए होगा। यह अलौकिक सेवा के लिए सदा तैयार (ैर्ं्ि्ब) रहेगा क्योंकि अब उसका तन केवल अपने लिए है ही नहीं। अत: अलौकिक सेवार्थ उसके मुख से 'न' शब्द कभी नहीं निकलेगा और उसे जहाँ भी और, स्थूल या सूक्ष्म जो भी कार्य दिया जायेगा, उसे यह सौभाग्य बनने की निशानी मानकर सहर्ष 'हाँ' करेगा। वह अपने आराम को भी दूसरों के सुख के लिए त्याग करने तथा कवट को भूलने को सदा तैयार होगा। इस प्रकार त्याग के स्वरूप को और सही त्यागी के लक्षणों को जानकर अब सच्चा त्याग करने तथा उदारचित होकर ईश्वरीय कार्य में सहयोगी बनने का एक मात्र तथा अनमोल समय है। परन्तु इस त्याग को सफल, स्थायी और सबल बनाने के लिए उदारचित्त बनना तथा ईश्वरीय सेवा में तत्पर रहना आवश्यक है।

जिज्ञासु – बहन जी, आज सच्चे तयाग के विषय में यह सारी मधुर चर्चा सुन कर मेरे मन में निस्संक-ल्पता और सरलता का अनुभव हो रहा है और त्याग की सीढ़ी पर चढ़ कर लक्ष्य तक पहुँचने के लिये तीव्रतर उमंग आ रही है। बहन जी, आपने 'उदारचित्त' तथा 'सेवा' – इन दो गुणों का जो अभी नाम लिया है, यह भी तो बहुत उचच गुण हैं?

उदारता

ब्रह्माकुमारी – निश्चय ही उदारता बड़ा गुण है। त्याग भी तो कोई उदार-चित्त व्यक्ति ही कर सकता है; किंजूस क्या त्याग करेगा? जैसे धन का दान उदार-चित्त व्यक्ति करते हैं, वैसे ही संकल्पों-विकल्पों, तन-मन आदि का त्याग, अर्थात् सर्वस्व त्याग भी तोई उदार-चित्त वाला मनुष्य ही करेगा। जैसे कंजूस व्यक्ति का सर्वस्व न अपने काम आता हे, न ही दूसरों के अर्थ लगता है उसी प्रकार जो व्यक्ति उदार-चित्त नहीं होता वह अपना तन-मन-धन यों ही व्यर्थ गँवा देता है। परोपकारर्थ, लोक-कल्याणार्थ या ईश्वरार्थ दान करके अपना भी भविष्य ऊंचा बनाने के कार्यार्थ उसे नहीं लगाता। अत: त्याग रूप महान गुणभी आप तभी अपना सकेंगे जब पहले उदारता का गुण धारण करेंगे। फिर, इस सतोगुणी एवं बेहद के त्याग के लिए तो बेहद उदारता चाहिए। जो जितना उदार-चित्त बनेगा, जिसका हृदय त्याग के लिए जितना विशाल होगा, उतना ही मानो उसका ऊंचा भाग्य बनेगा। अत: उदाहरता की विशेषता यह है कि यह ऊंचा भाग्य बनाने वाला गुण है। पूर्ण उदारता होगी तो भाग्यपूर्ण बनेगा और अधूरी उदारता होगी तो राज्य-भाग्य भी अधूरा होगा।

उदारता भी कई प्रकार की होती है

उदार मनुष्य भी कई प्रकार के होते हैं। कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो उदारता दिखाने में सोचते नहीं

बल्कि झट से न्यौछावर हो जाते हैं परन्तु कई व्यक्ति उदारता दिखाने में काफी देर लगाते हैं। देर लगाने वाले व्यक्ति सतयुगी सुखी सृष्टि में भी देर से आते हैं और झट-पट से या एक झट से, अर्थात् सतयुग के शुरू होते ही, अपार सुख नहीं पाते। पुनश्च, कुछ लोग उदारता दिखाने अथवा त्याग करने में बहुत विचारों में चले जाते, सोचते रहते और पूछते-पाछते हैं। अन्य कई ''शुभ कार्य में सोचना क्या अथवा शुभ कार्य में देर क्यों'' – ऐसी रीति को अपना कर, त्याग को संकल्पों-विकल्पों से खण्डित किये बिना अपनी उदारता दिखाते हैं। ऐसे व्यक्ति सुख-शान्ति वाली सृष्टि में अटल-अखण्ड, अपार सुख पाते हैं। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि बाहर से तो उदारता दिखाते हैं परन्तु उनके मन में सफाई नहीं होती अथवा उन्होंने लोक-कल्याण की भावना से त्याग नहीं किया होता। अत: वे त्रेतायुग की सृष्टि में ऐसे समय में अथवा ऐसा राज्य-भाग्य प्राप्त करते हैं जो कि वह देखने में तो विशाल होता है परन्तु उसमें सुख-राशि भरपूर नहीं होती। कुछ लोग तो उदारता दिखाने अथवा त्याग दिखाने के लिये अन्त तक, अर्थात् सृष्टि का महाविनाश आने तक, सोचते ही रहते हैं। ऐसे लोगों के बारे में मानो कि पर-मात्मा को भी सोचना पड़ता है कि अब इन्हें क्या प्रालब्ध दी जये!.....

उदारता के लिये सोचना क्या है?

परन्तु यह कोई अधिक सोचने की बात ही नहीं है! सोचा तब तक जाता है जब तक समझ में बात न आये और यदि समझ में आभी जाये तो अपनी समझ पर या समझाने वाले पर निश्चय न हो। परन्तु जबकि हमको यह भी समझ मिली है कि समय कौन-सा है, यह भी हमने जाना है कि हमें समझाने वाला कौन है और कि क्या करने से क्या प्राप्ति होगी और यदि हमें सबमें निश्चय भी है, तो फिर सोचने की गुंजायश नहीं रहती। सोचना भी निश्चय की कमी की या समझ की कमी की निशानी है या विषय के स्पष्ट न होने का सूचक है।

फिर जबकि हमको यह भी मालूम है कि हमारा त्याग संन्यासियों के त्याग की तरह विकारियों के हाथ में नहीं जायेगा बल्कि हम अपना जीवन इस लोक-सेवार्थ में लगा रहे हैं, इसे आत्माओं के कल्याण के कार्य में दे रहे हैं, तो इसमें सोचने की तो कोई बात ही नहीं है। सेवा धर्म को तो परम धर्म माना गया है और दूसरों की सेवा तो एक ऐसा कार्य अथवा गुण है जिससे न केवल सेवा लेने वालों को बल्कि सेवा करने वालों कोभी सुख होता है तथा दूसरों की आशीर्वाद मिलती है।

ईश्वरीय सेवा

ईश्वरीय सेवा में तो मनुष्य को नि:संकोच होकर जुट जाना चाहिए क्योंकि यह सेवा ही वास्तव में अवि-नाशी और अखुट (असीम) कमाई है। ईश्वरीय सेवा में ही बुद्धि जुटाने से संकल्पों-विकल्पों का त्याग स्वत:, सहज और स्थाई हो जायेगा वर्ना अवकाश वाली बुद्धि में ही अशुद्ध संकल्प उठेंगे। ऐसी सेवा द्वारा स्वत: ैलूदर्स्लूर्म्त्त्ब) ही दूसरों का जारे आशीर्वाद मिलेगा, वह भी तो हमारी आत्मिक उन्नति लाने

वाला होगा। सेवा से ही मनुष्य में नम्रता, सहनशीलता, सरलता आदि गुण पक्के होते हैं। सेवा करने से मनुष्य को तुरन्त ही खुशी मिलती है और अलौकिक सेवा में तो अपनी आत्मिक अवस्था भी ऊंची होती है। अत: सेवा तो अथक होकर करनी चाहिए क्योंकि यह अलौकिक सेवा का अवसर हम ब्रह्मा-मुखवंशी ब्राह्मणों को कल्प में केवल एक ही बार मिलता है और हम यह सेवा करके किसी का अह-सान (ऋण) नहीं लगाते बल्कि अपना ही भविष्य ऊंचा बनाते हैं। ज्ञान-सेवा ही हमारे तमोगुणी संस्कारों को सतोगुणी संस्कारों में बदलने, कदम-कदम पर मरने, आसुरी संस्कारों को छोड़ने की ट्रेनिंग लेने तथा प्रैक्टिकल रीति से त्यागी बनने की ट्रेनंग है। सेवा में व्यस्त रहने से ही मनुष्य विकारों तथा विकर्मों से बचा रहता है, गोया अपना भी कल्याण करता है। सेवा बिना खर्च किये खुशी प्राप्त करने का उत्तम तरीका है। अत: अब जबकि स्वयं परमपिता परमात्माभी इस मनुष्य-सृष्टि की बेहद, अथक, निष्काम और निरहंकारी रीति से अलौकिक सेवा पर उपस्थित हैं तो हमें भी उनके साथ ही सेवा में जुट जाना चाहिए। परमात्मा के साथ मिलकर कार्य करने का सौभाग्य मिलने तथा सेवा द्वारा उनसे सीखने का एक यही तो अवसर आता है। फिर, जैसे विकर्मों को दग्ध करने का एकमात्र तरीका है, वैसे ही आत्माओं को ज्ञान-रत्नों का दान देकर, विकारों रूपी रोग से पीड़ित आत्माओं को पवित्रता रूपी स्वास्थ्य का दान देने, ज्ञान के लिए प्यासी आत्माओं को ज्ञान रूपी अमृत पिलाने, दु:खी एवं मैले संस्कारों के कारण पतित एवं अटूत आत्माओं का उद्धार करने और, इस प्रकार, उन्हें जन्म-जन्मान्तर के लिए सुख प्राप्त करने की चाबी देकर भी बहुत ही पुण्य (झ्र्म्र्त्हूप्दज्ब) का भागी बनता है।

सातवाँ दिन –

निर्भयता, निश्चिन्तता, निस्संकल्पता, अडोलता और एक-रस तथा साक्षी अवस्था

ब्रह्माकुमारी – कल आपको सर्वोत्तम त्याग और सम्पूर्ण समर्पणमयता के बारे में तथा उदारता और सेवा के बारे में समझाया गया था। उसका ध्यान में रखते हुए आप बताइये कि जो सम्पूर्ण त्यागी होगा, क्या उसमें भय होगा?

जिज्ञासु – नहीं।

ब्रह्माकुमारी – आपका उत्तर ठीक है क्योंकि जिसने सब कुछ त्याग दिया है, जिसका अपना कुछ है ही नहीं और जो नम्र भाव से तथा उदार-चित्त होकर दूसरों की अलौकिक सेवा कर रहा है और पुण्य-कार्य कर रहा है, उसे भय किस बात का?

जिज्ञासु – मनुष्य को भय किस-किस कारण से होता है और भय से क्या-क्या रूप होते हैं तथा यह भी समझाइये कि भय वाले मनुष्य के क्या लक्षण अथवा चिह्न होते हैं?

मृत्यु का भय अथवा देह को क्षति पहुंचाने के बारे में चिन्ता

ब्रह्माकुमारी – भय का एक रूप तो यह है कि मनुष्य मृत्यु से डरता है अथवा उसे यह भय रहता है कि देह को कोई असह्य पीड़ा या रोग न हो जाय या किसी दुर्घटना आदि द्वारा कष्ट न हो। इस प्रकार का भय अपनी देह के बारे में भी हो सकता है तथा जो मित्र-सम्बन्धी हैं, उनके बारे में भी हो सकता है। मान लीजिए कि किसी मनुष्य को कोई रोग हुआ और डॉक्टर ने कह दिया कि यह रोगब बढ़ा हुआ और चिन्ताजनक (ऐीग्दले) है, तो इसे सुनते ही रोगी के हाथ-पाँव फूलने लगे, उसके पसीना छूटने लगा, उसने ''हाय-हाय'' करना शुरू कर दिया तथा यह कहना शुरू किया कि उसका दिल घबड़ा रहा है क्योंकि मृत्यु के भय ने उसे घेर लिया। उस रोगी के किस घनिष्ठ मित्र ने भी जब यह सुना तो भय से उसका भी चेहरा फक या फँक हो गया और उसके मुँह से ठीक तरह से बोलना भी बन्द हो गया, उसका गला रुक गया और ऑखों में नमी आ गयी क्योंकि वह चिन्ता में पड़ गया कि कहीं अब इसके प्राण न चले जायें। डाक्टर ने यह नहीं कहा कि रोगी अब नहीं बचेगा, परन्तु रोग का नाम ही ऐसा है कि रोगी और उसके सम्बन्धी सुनकर घबरा गये और चिन्ता में पड़ गये कि – ''हाय, अब क्या होगा?'' इस प्रकार की चिन्ता या भय-स्थिति मोह के कारण या बुरे कर्मों की सचेत (ण्दहेम्दले) अथवा अर्द्ध-चेतन (एल्ं-म्दहेम्दले) स्मृति के कारण है या तो मनुष्य का अपनी देह में ऐसा मोह होता है कि देह के छूटने की बात सोचकर वह घबड़ा उठता है या उसे यह चिन्ता के कारण भय होता है कि उसने अच्छे कर्म नहीं किए और इसलिए अब वह सोचता है कि – ''पता नहीं शरीर छोड़ते समय मुझे क्या कष्ट होगा या उसके बाद मैं कैसा जन्म लूँगा!'' इस भय अथवा चिन्ता का कारण निश्चय-बल की कमी

अथवा शुभ कर्मों की कमी है।

लोक-लाज अथवा निन्दा का भय

दूसरे प्रकार का भय लोक-लाज का भय या निन्दा की चिन्ता होती है। मनुष्य को यह घबराहट होती है कि – ''पता नहीं लोग मेरे इस कार्य के बारे में क्या कहेंगे ?'' इस भय का कारण भी आत्म-बल ेंग्त्त-ज्दौ) की कमी, ज्ञान की कमी, वाक्-बल की कमी और स्वयं में निश्चय की कमी है। यदि मनुष्य को स्वयं में यह निश्चय हो कि मैं जो कदम उठा रहा हूँ वह सोच-समझ कर और ठीक उठा रहा हूँ और इसमें ही मेरा कल्याण है तो उसे निन्दा की क्या परवाह ? फिर, यदि मनुष्य के पास वाक्-बल, नीति-बल, युक्ति-बल अथवा व्यवहार-चातुर्य हो तो भी उसे यह विश्वास रहेगा कि लोग मेरे बारे में कुछ उल्टा बोलेंगे भी तो मैं उन्हें वास्तविकता समझा लूँगा अथवा उनके प्रश्नों को निपटा लूँगा। अत: युक्ति-बल न होने के कारण भी मनुष्य में आत्म-विश्वास (एार्त्-म्दहग्हम) नहीं होता और आत्म-विश्वास अथवा पूर्ण ज्ञान न होने के कारण मनुष्य लोगों का सामना नहीं कर सकता और सामना न कर सकने की बात सोचकर मनुष्य को चिन्ता लग जाती है अथवा अपने में सामर्थ्य न समझने के कारण उसे भय का भूत पकड़ लेता है।

परिस्थितियों का भय अथवा भविष्य की चिन्ता

तीसरे प्रकार का भय परिस्थितियों से भय है। कभी तो मनुष्य अपने ही भय के संस्कार किसी छोटी-सी बात को भी बड़ा मान कर डरने लगता है और कभी सचमुच परिस्थिति विकट होती भी है और मनुष्य चिन्तित हो उठता है कि ''अब क्या होगा ? हे राम जी, अब मो सां का होगी ? मो पे का बनेगी ?'' उदाहरण के तौर पर किसी माता का बच्चा अभी तक स्कूल से नहीं लौटा। अब बात तो कोई बड़ी नहीं है परन्तु वह माता अपने ही भय के संस्कार के कारण चिन्ता करने लगेगी कि – ''हाय, कहीं दुर्घटना तो नहीं हो गयी होगी ! रास्ते में नदी पड़ती है, बच्चे न उसमें छलाँग तो नहीं लगा दी होगी या किसी ने उसे धक्का तो नहीं दे दियो होगा ! इस प्रकार मोह के कारण भय और भय के संस्कार के कारण उसका अनुमान चलने लगेगा

अनुमान से भय और बढ़ जायेगा और उसका दिल जोर से धक-धक करने लगेगा और हो सकता है कि इसी भय मेंउसके भी प्राण पखेरू जो जायें। इस तरह, भय के संस्कार के करण, कई लोग छोटी-सी परिस्थिति को भी विकट मान लेते हैं, गोया स्वयं ही अपने लिए भय भूत को जन्म देकर उसके वश में हो जाते हैं। परन्तु कुछेक परिस्थितियाँ सचमुच ऐसी होती हैं कि जिसे बहुत लोग 'भयावह' कहते हैं। उदाहरण के तौर पर एक मनुष्य ने किसी बैंक में पैसे रखे हुए हैं और उसे मालूम हुआ कि वह बैंक फेल (ईग्त) हो गया है। यह जानकर वह चिन्तित और भयान्वित होकर सोचता है कि ''अब मेरे पैसे का क्या होगा ?'' अथवा एक मनुष्य छत पर बैठा था और जोर का भूचाल आ गया और उसे

अपनी जान के लाले पड़ गये। इस प्रकार के भय के कारण भी किसी-न-किसी प्रका की आसक्ति, मोह या अपने किए कर्मों के दण्ड का भय है।

मनुष्य से भय

चौथी प्रकार का भय मनुष्यों से होता है। कोई दूसरा मनुष्य वार न कर दे या दुश्मनी के कारण हानि न पहुंचाये-यह भी भय बहुत लोगों को सताता है। इसका कारण दिव्य गुणों की कमी है। यदि मनुष्य में दिव्य गुण हों तो उस मनुष्य से बहुत ही कम लोग बिगड़ेंगे और यदि कोई उसके शत्रु बनेंगे तो वे उसके गुणों के कारण जल्दी ही उसके सहयोगी बन जायेंगे, यहाँ तक कि उसके लिए अपना जीवन भी न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जायेंगे। पुनश्च, उस मनुष्य को स्वयं में भी विश्वास होगा कि ''जो मनुष्य मुझ से बिगड़ा हुआ है, उसका मैं एक-न-एक दिन अपनी सहन-शीलता, हर्षित-मुखता, नम्रता, सेवा, योग-बल, मित्र-भावना, आदि-आदि से मनोपरिवर्तन कर दूंगा।

बुदिध् की कमी के कारण भय

पाँचवीं प्राकार का भय अपनी ही समझ या बुदिध् की कमी से होता है। यह भय मनुष्य को निरन्तर ही बना रहता है और सहज ही उत्पन्न हो जाता है। बुदिध् कम होने के कारण से या आत्म-विश्वास न होने के कारण मनुष्य जो कर्म करता है उसके बारे में उसे भय बना रहता है अथवा चिन्ता लगी रहती है कि पता नहीं इसका परिणाम ठीक होगा या नहीं होगा, इसे दूसरे लोग ठीक मानेंगे या वे मुझ से नाराज़ होंगे।

अत: जितनी प्रकार का भय बताया गया है, उससे स्पष्ट है कि उन सब का कारण किसी-न५किसी बल की -ज्ञान-बल, निश्चय५बल, योग-बल,मनोंबल (ेंग्त्त-ज्दौ) या दिव्य चरित्र-बल की कमी है और इस बल की कमी का कारण देह-अभिमान, संकल्प-विकल्प, मोह-ममता आदि के त्याग की कमी है। इस त्याग की अथवा समर्पणमयता की कमी के कारण ही मनुष्य को चिन्ता या भय बना रहता है।

जिज्ञासु -बहन जी, यह सब प्रकार का भय और चिन्ता कैसे दूर हो और यह अनेक प्रकार की चिन्ताएँ कैसे मिटें ?

भय तो मनुष्य के खून को सुखा देता है और जीवित मनुष्य को मत्यु की तरह का अनुभव देता है। चिन्ता भी चिता की तरह है।

ब्रहमाकुमारी - हरक भय जिस प्रकार के बल की कमी के कारण है, उस को पूरा करने से वह भय हटेगा अथवा चिन्ता मिटेगी। उराहरण के तौर पर जो देह छूटने का अथवा मत्यु का भय है, उसके लिए ज्ञान-बल की और देही-अभिमानी बनने की आवश्यकता मनुष्य को इस ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर सोचना चाहिए कि - ''मैंने तो अपना हाथ सर्व-समर्थ परम-पिता परमातमा को दिया हुआ है और अब तो मेरी चढ़ती कला है, अब तो कल्याणकारी संगम युग है। अत: अब जो कुछ भी होगा उसमें मेरा

कल्याण ही है। यदि मो इस शारीरिक विघ्न की हालत में भी बुदिध्-योग द्वारा शिव बाबा हा हाथ और साथ लिए रहूंगा तो मेरी सारी जिम्मेवारी शिव बाबा पर ही रहेगी। तब यदि मेरा देहान्त भी हो जाय तो भी वह मेरे कल्याण का उपाय करेगा ही क्योंकि जो अन्त तक उसकी आज्ञा को निभाता अथवा पालन करता तथा मन-बुदिध् से उसी का होकर रहता अथवा उसी एक का सहारा लेता है, उससे वह प्रभु जी अंत तक निभाता है, उसका पूरा कल्याण करके ही छोड़ता है और उसे सहारा दिये रहता है। वह उसे भँवर के बीच में छोड़ नहीं देता। अत:अब उस परम पिता परमात्मा के समर्पण होने के बाद हमारा हर बात में भला ही है, जीने में भी कल्याण है और मरने में भी दुर्गति नहीं है - ऐसा सोच कर मनुष्य को निश्चिन्त रहना चाहिए और ईश्वरीय स्मति द्वारा उस निर्बलों के सहारे (प्रभु) से बली लेते रहना चाहिए। वरना उसे भूल कर देह की चिन्ता करने से देह अभिमान की स्थिति होगी और देह-अभिमान से देह में मोह पैदा होगा और देह में मोह अथवा आसक्ति बनाये रखने वाला मनुष्य भय के भूत के कारण अगले जन्म में भी आसक्ति एवं भय के संस्कार को लेकर जायेगा, या तो वह आसक्ति एवं वासना के कारण इसी देह का सूक्ष्म रूप (छाया रूप) लेकर भूत बनेगा। अत: हर हालत में ईश्वरीय स्मति में स्थित होने तथा अपने भविष्य को ऊंचा देखने तथा अपने कल्याण में निश्चय करने में ही लाभ है। इस बात को समझकर देही-अभिमानी (एदल्त-म्दहेम्दले) बनने से तथा अपनी चढ़ती कला को समझने से भय का भूत भाग जायेगा।

दूसरी प्रकार का, अर्थात् लोक लाज का जो भय है, उसके बारे में मैंने बताया था कि निश्चय-बल की कमी से ही यह भय होता है। यदि मनुष्य को यह पक्का निश्चय हो कि हम स्वयं परमात्मा के मत पर चल रहे हैं जो कि दिव्य बुदिध् का दाता है और अभूल (ग्हैंत्त्ंत) है और कि ईश्वरीय मर्यादा सर्वोतम मर्यादा है, तो फिर वह लोक-लाज की, दूसरों द्वारा आलोचना या निन्दा की क्यों परवाह (चिन्ता) करेगा? परवाह तो थी एक प्रभु को प्राप्ता करने की, तो अब जबकि उसे पा लिया है तो फिर किसी की क्या परवाह है? कुतों को भौंकते देखकर अपने ऊरप संशय करना कि शायद मैं चोर हूँ- ये तो स्वयं अपने ऊपर विश्वास अथवा निश्चय की कमी है। जबकि स्वयं परमात्मा मिला है तो बाकी क्या चाहिए और किस बात का डर है? अत: लोक-लाज और निन्दा का भय भी तभी हट सकता है जब मनुष्य 'बे-परवाह' बन कर रहे अर्थात् दूसरों की बातें सुनते हुए भी उनकी परवह न करके ईश्वर-प्राप्ति के नशे में रहे और यह नशा तब ठहर सकता है जब निश्चय की नींव पक्की हो। अत: ज्ञान का औरा अधिक स्पष्टीकरण प्राप्त करके निश्चय तथा अनुभव को बढ़ाने से, वाक्-बल, युक्ति-बल और ज्ञान-बल को बढ़ाने से ही मनुष्य इस भय के बन्धन से छुटकारा पा सकता है।

जो लोग निन्दा करते हैं उन्हें कहना चाहिए - ''आप किस की निन्दा करते हैं? जिस जगदीश (जो भी हमारा नाम हो) की आप निन्दा करते हैं वह सतो मर चुका अथवा प्रभु को प्यारा हो गया। अब तो यह

दूसरा कोई है। यदि आप इसकी निन्दा करते हें तो यह किसी समर्थ के मि पर चल रहा है, यह तो उसकी डयारेक्शन (अेगम्दहे,निर्देश) पर है जिसे 'बुदिध्मानों की बुदिध्' माना गया है और सर्व-समर्थ है और जिससे सारा संसार दिव्य बुदिघ् मागँता है। यह किसी मनुष्य के मत पर नहीं चल रहा जैसा कि आप माने बैठे हैं, बल्कि जिस अदभूत एवं निराने मनुष्य को (प्रजापिता ब्रहमा को) आप हमारा मत-दाता मानते हैं, वह स्वयं भी उनके मत पर चल रहे हैं। उस एक परमात्मा ही के मत से मनुष्य माया के पंजे से छूटता है और उसका जीवन निर्विकार, पवित्र अथवा श्रेष्ठ बनता है। तो हइतनों का जीवन चरित्र बनते देखकर क्या आपको ऐसा श्रेष्ठ जीवन बनाने वाले की पहचान नहीं होती ?''
उनसे यह भी कहना चाहिए कि- यदि इस मत को देने वाला आपके विचार से 'परमात्मा' नहीं तो अच्छा, चलो, कोई 'महात्मा' तो होगा ही ? अगर इतना भी नहीं है तो फिर क्या हमार जीवन ऐसे ही बुराइयों को छोड़कर अच्छा बनता जा रहा है ? अच्छा, यदि आपको इतना विश्वास नहीं है तो हमारे विश्वास का घात क्यों करते हो ? क्या हमारे कर्मे की जिम्मेवारी आप पर है या हम पर ? जबकि आज मनुष्य अपने जीवन अथवा अपने कर्मों की जिम्मेदारी नहीं ले सकता अथवा ठीक तरह नहीं निभा सकता (जैसे कि उसकी वर्तमान रोग, शोग तथा विकार की अवस्था से स्पष्ट है), तो वह दूसरे की जिम्मेदारी लेने का दावा कैसे कर सकता है ? जबकि दूसरों की ज़िम्मेवारी लेने का दावा करने वाले मनुष्य यह अपना जीवन ही श्रेष्ठ नहीं है तो भला दूसरों को कैसे निश्चय बैठेगा कि यह हमारा जीवन श्रेष्ठ बना देगा ? जब जिसके मत पर चलने से हमारा जीवन श्रेष्ठ बन रहा है और हम स्वयं जीवन में पवित्रता और शान्ति का अनुभव कर रहे हैं, जब हम इसको छोड़कर दूसरे के कहने पर क्यों चलें ? क्या आप कर्मों की गहन गति को जानते हैं ? जबकि आपने उसके मत पर चलकर नहीं देखा है जिसके मत पर हम चलते हैं, तो आप दूसरों की बात सुनकर हमें रोकने और टोकने का पाप व्यर्थ ही अपने ऊपर क्यों लेते हैं ? समझदार मनुष्य का कार्य है-पहले स्वयं देखना एवं विचारना और फिर किसी निर्णय पर पहुंचना। आपने हमारे जीवन में क्या बुराई देखी है कि जिससे आप हमें टोकते हैं ? क्या जिसका नाम ही 'पवित्रता', 'ब्रहमचर्य', 'नियम', 'व्रत' अथवा सदाचार है, उसे आप बुरा कहते हैं ? यदि आपका ऐसा मंतव्य है तो हम प्रभु और पवित्रता-इन दो चीजों को नहीं छोड़ सकते, हमारे प्राण भले ही चले जायें। हमारी जो निन्दा करता है उसे तो हम अपना मित्र मानते हैं क्योंक उसके कारण हम अपने जीवन और कर्मों को श्रेष्ठ बनाने पर और अधिक ध्यान देते हैं और हम जानते हैं कि इससे भी हमारे कुछ पाप कटते हैं।'' इस प्रकार, पहले अपने मन में बातें करके, फिर योग के जौहर से आत्मा को भर कर मधुरता तथा सम्मानपूर्वक अथवा शक्ति रूप से और निर्भय होकर मनुष्य को बोलना चाहिए, तो उसकी लोकलाज की ऊंची दीवारें गिर जायेंगी या तो उसके कुछ बन्धन ही कट जायेंगे। सर्वशक्तिमान् परमात्मा को तथा अपने शक्ति रूप को याद करने से 'रिड-भाव' (भेड़-चाल

या बकरी के जैसा भय) निकल जायेगा। फिर भी यदि बन्धन ही हमारे लिए लिख हैं तो प्रभु के प्यार में, आसुरी स्वभाव के लोगों की जेल ही को 'योग की कुटिया' बनाकर परमापिता परमात्मा की समति में स्थित होगना चाहिए और उससे निवेदन करना चाहिए कि वह उनकी बुदिध् का ताला खोले। परन्तु मनुष्य को यह समझ लेना चाहए कि तन पर ही तो कोई बन्धन लगा सकता है, मन पर कैसे बन्धन लगाएगा? अत३ यदि शरीर पर कोई बन्धन लगाए भी तो मन से प्रभु को याद करनेसे यह भय भी भाग जाएगा और परिक्षा भी पार हो जायेगी।

तीसरी प्रकार की जो परिस्थितियों का भय है, उसके बारे में मैंने आपको बताया था कि इसका मुख्य कारण कोई-न-कोई आसक्ति, मोह या फल की आशा है। इसके अतिरिक्त, अपनी बुदिध् की, निर्णय शक्ति की या मनोबल (ंग्त्त ज्दौ) की कमी है। परिस्थिति को विकट देखकर घबड़ा जाने (म्दहिल,होने) अथवा भयभीत होकर हथियार-पावर (ैर्ंह् ज्दौ) छोड़ देने से तो मनुष्य को परेशानी देखनी ही पड़ती है। अत: वास्तविक तरीका यह है कि पहले स्थिति को ठीक रखा जाय वर्ना जैसे पर-धर्म दु:ख को देने वाला माना गया है और स्वधर्म सुख देने वाला, वैसे ही 'परिस्थिति' को देखकर गिरगिट की तरह रंग बदलने से तो परेशानी होगी ही, परन्तु स्व-स्थित से हमको अन्ते सुख ही होगा क्योंकि परिस्थितियों का सामना करने के लिए भी पहले स्व-स्थिति में रहना जरूरी है। स्व-स्थिति में रहने से स्थिति का भी बल मिलेगा वर्ना यदि स्वयं ही अपने वश में नहीं होंगे तो परिस्थिति को कैसे वश में करेंगे? स्थिति को ठीक करने और स्मति को ईश्वर से जोड़ने से बुदिध् को भी बल मिलेगा, निर्णय शक्ति भी तीक्ष्ण होगी और उस परिस्थिति को पार करने के लिए भी मार्ग-प्रदर्शना मिलेगी।

पता नहीं क्या होगा? अब मैं क्या करूं?

किसी भी कठीन परिस्थिति को देख कर मनुष्य का ऐसा सोचना कि- ''पता नहीं अब क्या हो,'' गोया स्वयं को अपने ही मनोयमय भूत से डराना है। होगा क्या? -जो होना होगा वही होगा! जो भावी लिखी हुई है, वही बनेगी। ''हे राम जी, मो साँ का होगी?'' -ऐसी चिन्ता करना बुज़दीली है वर्ना राम ने तो बता दिया है कि अब इस कलियुगी सृष्टि का महाविनाश होगा और सतयुगी सृष्टि की स्थापना होगी औरा अब यदि 'विप्रीत-बुदिध्' रहोगे तो आपका भी विनाश होगा और यदि 'प्रीत-बुदिध्' बनोगे तो आप मुक्ति और जीवन मुक्ति के भागी बनोगे। अत: जबकि राम ने अर्थात् लोक-रजंक परमपिता शिव ने तीनों कालों का हाल बता दिया है और भवष्य के बारे में भी स्पष्ट सुना दिया है तो फिर, 'हे राम जी,मो सां का बनेगी'? -यह चिन्ता व्यक्त करना गोया अज्ञानता और विस्मृति-सूचक शब्द बोलना है। राम तो मेराभला करने को ही आये हैं, यदि में भला न बनूं और ''भला ऐसा क्यों नहीं हुआ, भला ऐसा न होकर वैसा होता तो अच्छा था'' -इस प्रकार बोलता रहूँ तो भला किसका दोष? राम तो बिगड़ी को बनाने वाले हैं और हमारे संकट हरने वाले हैं, परन्तु हम ही उसका सहारा लेने की

बजाय किनार ले लें और भय का सहारा ले लें, उनसे बल लेने की बजाय उससे उल्टा चल दें और उस भरोसा करने की बजाय माया का ठोंसा खा लें और फिर कहें- ''अब मैं क्या करूँ?'', तो यह तो गोया हम स्वयं ही बुलाते हैं कि- ''आ रे बैल, मुझे मार।'' ''मैं क्या करूँ, कैसे करूँ,'' इस प्रकार सब ज्ञान, ध्यान, योग और गुण छोड़कर बैठ जाना तो गोया गीता-प्रसिदध् अर्जुन की तरह गाण्डीव को छोड़कर गीता का पहला-दूसरा पाठ भी भूला देना है। हमारे लिए कर्तव्य और अकर्तव्य क्या है-इसका स्पष्ट ज्ञान तो परमपिता परमात्मा ने दे ही दिया है, अब उसे धारण करके प्रैक्टिकल जीवन में लाना तो मेरा काम है। इसमें राम क्या करें? मंजिल पर तो मुझे ही पहुँचना है?

राम तो मेरी मदद (सहायता) करेंगे परन्तु हिम्मत तो मुझे करनी होगी। फिर, ऐसा तो होना ही नहीं है कि 'राम जी' कहने से हमारे किए हुए पिछले कर्मों के परिणामस्वरूप जो परिस्थितियाँ बन कर हमारे सामने आई हैं, वह बिल्कुल ही टल जायेंगी? हाँ, यदि हम परमपिता परमात्मा की आज्ञाओं कापालन करते हुए, उनकी स्मृति में तथा स्व-स्थित में रहते हुए परिस्थिति का सामना करेंगे तो वह ऐसे निकल जायेंगी जैसे मक्खन से बाल अथवा उसका हम पर केवल इतना ही प्रभाव पड़ेगा जैसे सूली की बजाय हल्का-सा काँटा लगने का प्रभाव। परन्तु यदि हमने जीवन राम के हवाले किया ही नहीं है, अपनी ज़िम्मेदारी उसको सौंपी ही नहीं है और हमारे ऊपर उसने जो जिम्मेदारी रखी वह हमने उठाई ही नहीं है, तो फिर पूरी मदद कैसे मिलेगी? यदि हमने जीवन उसको दिया हुआ है तो फिर हमें किस बात का डर है? तब तो डरने का अर्थ उस पर भरोसा न करना या उसके हाथ से ज़िम्मेदारी निकाल कर अपने हाथ में लेना है। यदि पहले अपने जीवन को उसके हवाले नहीं किया तो चलो अब ही कर दो परन्तु अपनी ज़िम्मेदारी का दखल-अन्दाज़ी (हस्तक्षेप) निकाल कर पूरी तरह उसकी मत पर चलो। यदि उसकी मत पर चल रहे हो या चलने के लिए तैयार हो तो फिर डर किस बात का? देखो, राम के हवाले की हुई नैया हमारे पूर्व कर्मों द्वारा लाये हुए तूफानों में डोलेगी तो सही डूबेगी कभी नहीं। किन्तु, यदि हमारा मन राम-राम में टिकने की बजाय डर कर इधर-उधर भागेगा, तो हो सकता है कि यह जीवन रूपी नाव उलट जाय और डूब भी जाय जैसे कि आप संसार में देखते भी होंगे कि यात्री जब नाव में डर कर भागते हैं तो कई बार नाव उलट जाती है। अत: यदि आपको यह भय है कि कहीं मेरी नाव उलट अथवा डूब न जाय तब भी भय को छोड़ो क्योंकि भय से ही उलटने और डूबने की संभावना बढ़ती है और यदि आपको नाव के डूबने का भय नहीं है, केवल तूफान का भय है तो ये तूफॉन आने ही थे क्योंकि आपने ऐसे कर्म किये जो थे। यदि अब इनको पार करना चाहते हो तो परमात्मा ही खेवनहार है। उसके हाथ में जीवन की पतवार दे दो, परन्तु, फिर आप हस्तक्षेप न करना, अपना मत उसके मत में न मिलाना बल्कि उसके हवाले करके एक जगह बुदिध् को टिकाए रहना। इस प्रकार यदि स्वीकार हो तो भय और चिन्ता को भगवान के हवाले कर दो और उस वरदाता से निर्भयता और निश्चिन्तता के

मोती लेकर अभय हो जाओ।

पाँचवीं प्रकार का भय, जो कि मनुष्य से भय के रूप में आता है, उसके बारे में बताया था कि यह मनुष्य में दिव्य गुणों तथा आत्मिक बल की कमी के कारण इस जीवन में हमारे ऊपर माया के वार तो होंगे ही। रोग, हानि, मत-भेद, विरोध, थकावट आदि का आक्रमण भी होगा ही। यदि हम सावधान और अडोल रहेंगे तो बच जायेंगे, वर्ना स्व-स्थिति से हिलने पर तो हम इन वारों से घायल हो जायेंगे। आपने सर्कस में देखा होगा कि जिस पर बर्छियाँ फैंकी जाती हैं, यदि वह ज़रा भी हिल जाय तो उसके घायल होने की संभावना होती है। मनुष्य अपनी किसी दुर्गुण के वश होकर किसी से कोई अनुचित व्यवहार कर बैठता है और फिर उसे चिन्ता अथवा भय लग जाता है कि कहीं यह मनुष्य किसी प्रकार की हानि न पहुँचा दे! यह तो दूसरा व्यक्ति ही आसुरी स्वभाव का, झागड़ालू अथवा मायाती होता है और खाह-मखाह किसी के बहकाने पर या किसी ग़लतफहमी से कोई क्षति पहुँचाने पर तुला हुआ होता है, इस-लिए मनुष्य भयभीत हो जाता है कि यह व्यक्ति अथवा इसका संगठन मुझे या मेरे संगठन को हानि न पहुँचा दे। परन्तु यदि मनुष्य में दिव्य गुण हों और आत्मिक बल हो तो वह सोचता है कि- ''मैं इस परिस्थिति पर नियन्त्रण कर लूँगा।'' अत: इसके लिए डरने की आवश्यकता नहीं है और, बल्कि नम्रता, प्रेम, सेवा-भाव आदि दिव्य गुणों को धारण करने की आवश्यकता है और, यदि स्वयं से कोई भूल हो गई है, तो उस व्यक्ति के पास जाकर अपनी भूल मानकर क्षमा ले लेना ही उचित है। और, यदि भूल नहीं हुई अथवा यदि वह व्यक्ति किसी और स्वभाव का है तो सत्यता के बल पर तथा ईश्वर के भरोसे पर निश्चिनत होकर रहना चाहिए और आगे चल कर जो-कुछ होगा, उसका सामना दिव्य गुणों को अपनाकर करना चाहिए। यदि हम स्वयं में दिव्य गुणों का बल भरेंगे, मधुरता, सहनशीलता, नम्रता, प्रेम और सेवा आदि से सुसज्जित होकर आगे बढ़ेंगे तो बहुत-से लोग हमारे पक्ष में हो जायेंगे और अन्तिम विजय हमारी होगी। अच्छा, मान लो, कोई परिणाम हमारे 'हित में' नहीं भी निकलता है तो भी भयान्वित होकर दु:ख को बढ़ाने से क्या लाभ? जो होगा सो देखा जायेगा। अभी थोड़े ही वर्षों में सब भस्मीभूत तो होने ही वाला है, इससे बढ़कर क्या होगा? तो जबकि हम अपनी पवित्रता, ज्ञान और योग के आधार पर आने वाले महाविनाश से भी नहीं डरते तोइस छोटी-सी विपति से क्या डरेंगे?

ज्ञान तथा योग के अस्त्र-शस्त्र न होने के कारण भय

जिज्ञासु- बहन जी, आपने भय के कारण और उनके निवारण को बहुत ही सरल और स्पष्ट तरीके से मुझे समझाया है। क्या भय के अन्य भी कोई कारण हैं?

ब्रह्माकुमारी- जब किसी मनुष्य पर किसी का वार होता है तो उस समय यदि उसके पास अस्त्र-शस्त्र न हों तो उसे अधिक भय होता है। जिसके पास कोई-न-कोई शस्त्र हों, उसे भय नहीं होता अथवा कम होता है। अत: यदि किसी परिस्थिति में, किसी भी कारण से मनुष्य को भय होता है समझना चाहिए कि

उसके पास ज्ञान या योग के किसी-न-किसी शस्त्र की कमी है। या तो उसके पास निश्चय रूपी शस्त्र नहीं है या उसके पास जो ज्ञान-योग रूपी अमोघ अस्त्र-शस्त्र हैं, उन्हें उसने बाँधकर कहीं पेटी में रख छोड़ा है, वह इस समय उसके हाथ में (उसकी बुदिध्) में नहीं हैं या उन शस्त्रों को चलाने का ढंग उसे नहीं आ रहा, वर्ना उसमें हौंसला, हिम्मत और विश्वास देखने में आता क्योंकि वह समझता कि जिस रूप में भी अब माया के वार हो रहे हैं, उन सभी की पहचान भी मुझे परमात्मा ने दी हुई है, उन सभी की युदध्-नीति भी मुझे परमात्मा न समझाई है, अर्थात् माया कैसे-कैसे और किस-किस रूप में वार करेगी, वह क्या-क्या दाँव-पेंच प्रयोग करेगी, ये सब तो मुझे ऐसे अस्त्रों-शस्त्रों से भी लैस कर दिया है जो माया के आक्रमण का मुकाबला या सामना करनेमें बहुत ही शक्तिशाली हैं और स्वयं भगवान् भी ऊपर से मुझे शक्ति दे रहे हैं। अत: मैं तो इन पर विजय प्राप्त कर ही लूँगा।

भला हमारे वह शस्त्र कौन से हैं? हमारे शस्त्र हैं- शंख, चक्र, गदा, पद्म। स्वदर्शन चक्र और गदा ऐसे शस्त्र हैं जिससे मनुष्य सहज ही माया के तूफानों को पार कर सकता है। परन्तु यदि शस्त्रों के साथ मनुष्य के पास बचाव का कोई उपकरण या हथियार न हो तो भी उसके मन में कुछ भय बना रहता है। वह हथियार है-विश्व-ड्रामा का ज्ञान रूपी ढाल।

ड्रामा रूपी ढाल न होने के कारण भय

भय अथवा चिन्ता का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य बार-बार भूल जाता है कि यह संसार एक ड्रामा अथवा एक विराट नाटक है। इस ड्रामा की जो भावी बनी हुई है, जो फिल्म अनादिकाल से शूट (इग्त्स् एप्ददू) हुई-हुई है, वही सीन (दृश्य) अब सामने आना है। यह पुनरावर्ती ड्रामा (ीाूग्न ॅर्ऱ्) है; जो पिछले शो (एप्दै) में, अर्थात् ५,००० वर्ष पहले (कल्प पहले) हुआ था, वही अब होना है।उससे भिन्न, दूसरा तो कुछ होना ही नहीं है। अत: कहावत भी है कि- ''बनी-बनाई बन रही अब कुछ बननी नाहिं।'' इसमें रिचंक भी परिवर्तन तो हो नहीं सकता। ये तो हमारे कर्मों के आधार पर बनी हुई फिल्म है। हमने पूर्व काल में जो कर्म किए हैं, उनके आधार पर ही हमारा भविष्य पूर्व-निश्चित (झि-र्द्ग्हा) हो गया है। अत: जो होनी है (ूेे दं।) उसे हम अनहोनी (ऊ्दू दं।) तो कर नहीं सकते, तब फिर चिन्ता किस बात की और भय किस चीज़ का? इसलिए कहा भी गया है कि ''चिन्ता ताकी कीजिए जो अनहोनी होय।'' भय अथवा चिन्ता करने से तो कुछ बदल सकता नहीं है, तब फिर भय या चिन्ता का क्या अर्थ? अत: हमें तो केवल इतना करना है कि अपनी तरफ से पूरा पूरुषार्थ अथवा यत्न करना है और फिर जो परिणाम निकलता है उसमें साक्षी होकर रहना चाहिए, क्योंकि हम पुरुषार्थ, उद्यम, यत्न अथवा कर्म के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते हैं? यदि हम परिस्थिति को पलट सकते हैं, तो पलट भी तो अपने कर्म से ही सकते हैं। अत: हमें कर्म ऊंचा, ऊरे उत्साह से तथा पूरी लग्न से करना चाहिए परन्तु उसके भविष्य की चिन्ता या भय से स्वयं को दु:खी करना 'कर्म' की कोटि में गिनती

नहीं होता बल्कि वह तो 'विकल्प', 'विकार' अथवा 'विकर्म' कोटि में या अपनी को दु:ख देकर पाप के भागी बनाने की कोटि में, योग-भ्रष्टता की कोटि में, ईश्वर में संशय की कोटि में, कायरता की कोटि में तथा अपने ही पुरूषार्थ में स्वयं ही रूकावट बन कर अपने विरुदध् स्वयं अपराधी बनने की कोटि में गिनती होता है। जबकि भय करने में इतने दोष आर दु:ख हैं तो भय और उसकी बहन चिन्ता को अपने मन में निमन्त्रण देने अर्थात् घुसने देने का क्या अर्थ? जबकि यह संसार है ही एक नाटक अथवा खेल (ठैस) तो खेल ही मानकर (ग्हू पे ज्ीगू र्दू पुर्ुस) इसमें के जीत-हार को देखना चाहिए, हार से भयाविन्त नहीं होना चाहिए।

साक्षी और निस्संकल्प अवस्था को धारण करने से भय और चिन्ता से निवृत

इस प्रकार- '' सृष्टि एक ड्रामा है।'' इस रहस्य को अपने प्रैक्टिकल जीवन में एक ढाल के तौर पर अपनाने से मनुष्य पर चिन्ता और भय का वार नहीं होता बल्कि मनुष्य को इसे साक्षी होकर देखता है। वह अपने पार्ट को भी ऐसे देखता है जैसे किसी और का हो और वह स्वयं उसे साक्षी होकर देख रहा हो। जब उसका यह प्रश्न नहीं बन रहता कि- '' पता नहीं, क्या होगा अथवा कैसे बीतेगी?'' -बल्कि वह निस्संकल्प रहता है और वह पुरुषार्थ को पूरी तरह करते हुए भी परिणाम के बारे में सदा साक्षी, अनासक्त और निस्संकल्प रहता है क्योंकि वह सोचता है जो होना होगा सो होगा; कल्प पहले भी जो हुआ होगा सो अब फिर होगा। आगे चलकर साक्षी होकर उसे भी देख लूँगा। अनके बार मैंने यह पार्ट बजाया है, मैं फिक्र से फारिग (निश्चिंत) हूँ क्योंकि अपनी फिक्र (चिन्ता) मैंने परमात्मा को दे दी है और स्वयं पूरा फकीर बन गया हूँ। भला फकीर को क्या भय और किस बात की चिन्ता? फकीर तो प्रभु का चिन्तन करता है, उसकी बाकी सब चीजों का चिन्तन या चिन्ता तो परमात्मा के हवाले होती है। हाँ, फकरी लोग परमात्मा की आज्ञा पर सब-कुछ करते हैं और जो उसकी कल्याणकारी तथा श्रेष्ठ आज्ञा पर चलते हैं, उन्हें क्या डर? उन्हें कैसी चिन्ता? इस प्रकार,उसकी बुदिध् में कभी भी बोझ मह-सूस नहीं होता बल्कि उसे सदा एक हल्कापन अनुभव होता है। यदि उसे कोई चिन्तित या भयान्वित होकर पूछता भी है कि- '' अब क्या होगा?'', तो वह कहता है- ''वही होगा जो कल्प पहले अर्थात् ५,००० वर्ष पहले हुआ था।'' ऐसा कह कर वह साक्षी और निर्विकल्प होकर उसे देखता है। यदि कोई हानि, पराजय अथवा ऐसी-वैसी बात हो जाती है और कोई उसे जाकर कहता है- ''यह तो बहुत बुरा हुआ! इससे तो आपको बहुत क्षति अथवा हानि हुई है। अब आप क्या करेंगे, आपकी फलाँ बात का क्या होगा?'', तो वह कहता है- ''भाई, यह कोई नई बात नहीं हुई (ज्दूप्हु चै!) यह तो असंख्य बार हो चुकी है, इससे घबराना क्या है? यह तो बना-बनाया ड्रामा है! अब आगे चल कर जो होगा सो आप और हम साक्षी होकर देख लेंगे, अभी इसका फिक्र क्यों करें, व्यर्थ संकल्प क्यों चलायें? फिक्र तो करना है शिव बाबा की याद का और श्रेष्ठ कर्म करने का और बुरे कर्म जन्म-जन्मान्तर किए हैं,

उन्हें योग-बल द्वारा दग्ध करनेका, वर्ना तो धर्मराज के डण्डे खाने पडेंगे- यह है वास्तविक फिक्र जोकि कलयाणकारी है, बाकी सब फिक्र तो फालतू हैं, बाकी सब संकल्प वृत्था हैं।''

जिज्ञासु- धर्मराज द्वारा दण्ड मिलने का भय कैसे कल्याणकारी है?

केवल एक ही भय और एक ही चिन्ता कल्याणकारी हैं

अत: अन्य सभी प्रकार के भय तो दु:खदायक और हानि कारक हैं और सभी चिन्ताएँ चिता के समान हैं। परन्तु, एक यम के डण्डों का भय और शिव बाबा की याद की चिन्ता ही सुखदायक हैं क्योंकि वास्तव में इस भय और चिन्ता से मनुष्य बुरे कर्मों से बचता, श्रेष्ठ कर्म करता और ईश्वरीय याद किए हुए विकर्मों से मुक्त होता है१ जो एक भय अथवा चिन्ता करता है, वह अन्य सभी प्रकार के भय और चिन्ता को छोड़ देता है, वह कदम-कदम पर भय और चिन्ता से दु:खी होता है।

अत: मनुष्य को चाहिए कि शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि अलंकारों को अथवा अस्त्रों-शस्त्रों को धारण करे और सृष्टि को एक ड्रामा मान कर इसके ज्ञान को ढाल के तौर पर प्रयोग करे तथा स्वयं में फेथ (ईंगू विश्वास) रखे क्योंकि फेथ में ही फायदा है और निश्चय में ही विजय है। इसलिए कहा गया है कि निश्चयात्मा विजन्ति, संशयात्मा विनश्यन्ति। यदि निश्चय है तो विजय है ही है। और,यदि हमने भगवान् का साथ ठीक तरह से ले लिया है तो भी विजय है ही है- यह तो गीता में गाया हुआ है। अत: भय, चिन्ता या घबड़ाहट की कोई बात नहीं है।

जिज्ञासु- बहन जी, घबड़ाहट का क्या कोई अलग कारण होता है? उसके निवारण की क्या युक्ति है?

''यह क्या हुआ?'' -ऐसी घबराहट

नहीं, वास्तव में घबराहट भी भय अथवा चिन्ता ही का एक रूप है। कुछ भी हुआ हो तो उसको सुन कर, देखकर या सोचकर चेहरा फक या फंक हो जाना या घबराहट होना -यह सब भयभीत मनुष्य के चिह्न हैं। कुछ थोड़ी भी बात हानि पहुँचाने वाली हो गयी तो भय तथा चिन्ता के स्वभाव वाला मनुष्य झट से कह उठता है- ''यह क्या हुआ!'' ऐसा कहते हुए उसके चेहरे की रेखाएँ भी बदल जाती हैं और ऑखें भी बदल जाती हैं। वास्तव में ऐसा होना ही नहीं चाहिए क्योंकि जो होना था सो हो गया और विश्व-नाटक की भावी के अनुसार हुआ- इसमें रंचक भी सन्देह करके यह नहीं कहना चाहिए कि ''यह तो ठीक नहीं हुआ!'' यह विश्व नाटक (दॅर्ल्ड्) इतना ठीक (म्र्ल्ू) बना हुआ है कि इसमें संशोधन की गुंजाइश ही नहीं है। इसमें मिनट-मिनट में जो-कुछ हाता है उसका करण है; उसमें गहन-रहस्य है, चाहे वह हमें देखने में आये या न आये। अत: यह कहना कि- ''यह ठीक नहीं हुआ'', अथवा ''अगर, ऐसा न होता तो ऐसा परिणाम न निकलता'' -यह सब व्यर्थ चिन्तन है, यह समय तथा शक्ति को व्यर्थ गँवाना है और अपना मिथ्या अहंकार दिखाना है। जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और होगा, वह बिल्कुल ही अनादि-निश्चित भावी के अनुसार होता है और होना है और हमारा कत्र्तव्य अपने कर्म

निर्विकार रीति तथा अडोल होकर करना है। ड्रामा में संशोधन की बात करने की बजाय मनुष्य को अपने को सुधारने में लग जाना चाहिए और इससे उसका भविष्य भी सुधर जायेगा, उसके मन से भय और चिन्ता भी निकल जायेगी और वह अडोल तथा एकरस अवस्था में टिक सकेगा।

इस ड्रामा को याद रखते हुए मनुष्य को कभी हैरानी, घबड़ाहट, परेशानी, भय या चिन्ता से यह नहीं कहना चाहिए कि- '' यह क्या हुआ'', बल्कि यदि कोई अन्य कभी ऐसे हमें कहे भी तो उसे कहना चाहिये कि- '' क्या आपको पता नहीं है कि क्या हुआ? संगम युग आया, शिव बाबा का दिव्य जन्म हुआ, उन्होंने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा ज्ञान दिया. . . . ये सब-कुछ अद्भूत ही चरित्र हुआ।'' ऐसा कह कर उसका भी ध्यान ज्ञान की ओर ले जाना चाहिये औरर जब कभी भी कोई विचारोत्पादक बात हुई हो तो घबराहट या चिन्ता के शब्द प्रयोग करने की बजाय कहना चाहिए- ''एक अद्भूत (ंदर्ह्ल्ि) बात हो गई है''! अथवा ''ऐसा हुआ, चलो कोई हर्ज़ नहीं'' -ऐसा कह कर बात को हल्का कर देना चाहिए या तो कहना चाहिए कि- '' जो कुछ हुआ उसे जाने दो, अब आगे के लिए पुरूषार्थ को तीव्र करो।'' इस प्रकार की युक्तयों को अपनाने से अवस्था अडोल रहेगी।

जिज्ञासु - बहन जी, निर्भय तथा निश्चिन्त बनने के लिए आपने जो-कुछ समझाया है, उसे सुन कर मैं अपनी अवस्था में बहुत खुशी और दृढ़ता का अनुभव कर रहा हूँ। कृपया मुझे बताइये कि न चाहते हुए भी बहुत बार अवस्था हिल क्यों जाती है और स्थिति डोल क्यों जाती है?

ब्रह्माकुमारी- मनुष्य की अवस्था को डगमग करने वाली तो माया ही है। ईर्ष्या, भय, निन्दा, लोकलाज, विघ्न, कठिनाइयों आदि को सहन करने की कमी तथा काम, क्रोधादि विकारों या पूर्व संस्कारों के वार, एक-दूसरे के स्वभाव का टकराव तथा मतभेद, परीक्षाओं को पार करने की शक्ति की कमी आदि-आदि -ये सभी मनुष्य की अवस्था को एकरस नहीं रहने देते और ये सबसे पहले उसके निश्चय को या उसकी ईश्वरीय लगन को या उसके संन्यास को या उसके योग को तोड़ने की कोशिश करते हैं। जो मनुष्य जिस बात में कमजोर होता है, उस पर वहीं माया का वार होता है और कई बार माया मनुष्य को चारों तरफ से घेर कर उसे अपना बनाने का प्रलोभन देती है या तो उसे गिराने और मूर्छित करने के लिए दाँव-पेंच चलाती है। अत: अडोलता तथा एकरस अवस्था को धारण करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर को, माया को तथा पुरुषार्थ की रीति को पूरी तरह जाने और पहचाने। वास्तव में ईश्वर को जानना कठिन नहीं है क्योंकि वह एक है, एक रस है और उसका यथार्थ परिचय भी एक है। परन्तु, माया तो अनेकानेक रूप धारण करती है, यहाँ तक कि ईश्वर का भी रूप धारण करके आती है१ मैंनें पहले अन्तर्मुखता, सहनशीलता, धैर्य, सन्तोष, नम्रता, निर्भयता आदि को धारण करने की जो युक्तियाँ आपको बताई हैं और उससे भी पहले पाँच विकारों पर विजय प्राप्त करने की जो युक्तियाँ आपको पिछले सप्ताह समझाई थीं उन्हें प्रैक्टिकल अभ्यास तथा आचरण में लाने से ही

अवस्था को अडोल बनाने का पुरुषार्थ हो सकेगा। इन सब से भी अनमोल युक्ति है- प्रतिदिन शिव बाबा की मुरली सुनना, प्रतिदन ज्ञान-कक्षा (र्म्ै) में जाना, पने से अधिक ज्ञान-निष्ठा एवं योगयुक्त बहन-भाइयों के प्रति नम्र स्वभाव से अपने लिए संशोधन लेकर उसे अपनाना।

जितना-जितना आप विकारों को छोड़ेंग, दिव्य गुण धारण करेंगे, ईश्वरीय याद में तथा देही-निश्चय (एदल्त्-म्दहेम्दल्हो) में आप रहेंगे और ज्ञान की नींव को तथा निश्चय को पक्का करेंगे, उतना-उतना आपकी स्थिति अचल, अडोल, स्थिर अथवा एकरस होगी और इस निस्संकल्पता तथा अडोलता से ही आप अन्तिम लक्ष्य अथवा स्वरूप-स्थिति को प्रापत होंगे। आज मनुष्य न जो सहार लिये हुए हैं, वे ही डोलायमान हो जाते हैं, उसका मन पवित्रता की मर्यादा से भी डोल जाता है, उसने जिस देह का अभि-मान धारण किया हुआ है, वह देह भी अस्थिर,विनाशी और परिवर्तनशील है, जिन रसों के पीछे वह पड़ा है, वह रस भी अल्प-स्थायी है, तो उसकी अवस्था भला एकरस हो कैसे ? सदा एकरस तो पर-मात्मा ही है और उसकी याद में एकटक, एकतान तथा एकतार होकर बैठना ही एकरस अवस्था को प्राप्त करनेकी सर्वश्रेष्ठ युक्ति है।

जिज्ञासु- यह तो आपने उत्तम बात कही है। बहन जी, अडोलता तथा एकरस अवस्था को धारण कर-नेकी और कौन-कौन-सी युक्तियाँ हैं ?

अडोलता को धारण करने की युक्तियाँ

ब्रह्माकुमार- शिव बाबा ने इसके लिए और भी बहुत-सी अनमोल युक्तियाँ बताई हैं। शिव बाबा कहते हैं कि इस सृष्टि को एक मंच (ए्ंा) मान कर ऐसा समझो कि सृष्टि-भर में जो लगभग ५०० करोड़ मनुष्यात्माएँ हैं, वे मेरे पार्ट को देख रही हैं। इससे आपका अपने कर्मों पर पूरा ध्यान (ूंहूग्दह) रहेगा और ध्यान रहने से आपकी अवस्था अच्छी तथा अडोल रहेगी। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति मंच पर भाषण करने वालों के साथ बैठा है। भाषण सुनते हुए उसे जमाई आने लगी अथवा नींद की कुछ लहर शुरू हुई है और वह थोड़ी-थोड़ी देर में झुटका खाने लगा है, तो जब उस यह वियार आयेगा या उसे जब कोई यह जतलायेगा कि सारे श्रोतागण उसे देख रहे हैं, ता वह चौकन्ना होकर बैठेगा क्योंकि वह सोचेगा कि श्रोतागण अथवा दर्शक उसके बारे में क्या कहेंगे ? इसी प्रकार, शिव बाबा कहते हैं कि आपका भी अपनी अवस्था पर पूरा ध्यान रहेगा यदि आप स्वयं को मंच पर मानेंगे और ऐसा सोचेंगे कि सारी दुनिया की दृष्टि आपकी ओर है। वास्तव में यह बात है भी ऐसे ही क्योंकि जब कोई मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान लेता है और दूसरों को भी उसका परियच देने लगता है तो सभी उसके कर्मों को ही ध्यान से देखते हैं कि अब यह क्या करता है और कैसे चलता है ?

जब कोई अपनी फोटो खिंचवाने के लिए कैमरा (ण्र्स्ै) के सामने बैठता है तो वह भी बहुत सम्भल कर, ठीक-ठाक होकर, बन-ठन कर बैठता है और हिलता भी नहीं ताकि कहीं फोटो बिगड़ न जाय

और वह मुस्कराता भी रहता है ताकि फोटो में मूड अच्छा आये। इसी तरह, शिव बाबा समझाते हैं कि अब यह पुरुषोतम संगमयुग चल रहा है, इसमें ही मानो हमारे भविष्य के जन्म-जन्मान्तर के पार्ट की फिल्म अर्थात् 'भावी' बन रही है। इस बात को ध्यान में रखने से अवस्था में हलचल नहीं होगी और अडोलता आयेगी।

हठ योगी तथा तत्व योगी लोग तो कहते हैं कि जब मनुष्य योगाभ्यास के लिए बैठता है तो एकदम सीधा होकर बैठे, उसकी ऑखें बन्द हों और उसका शरीर हिलना-डुलना भी नहीं चाहिए। परन्तु, शिव बाबा कहते हैं कि- राजयोगी को चाहिए कि शरीर की बात छोड़ कर मन को न हिलने-डुलने दे और इस कलियुगी संसार की ओर देखने वाली ऑख को बन्द कर दे और मन की चाल को सीधा करके बैठे१ इस प्रकार बैठने से अवस्था अडोल होगी।

इसी तरह, शिव बाबा कहते हैं कि- ''इस रावण राज्य में माया रूपी आसुरी सेना के वार तो होंगे ही। माया अनेक प्रकार से निश्चय की टाँग हिलाने की कोशिश करेगी, जैसे कि रावण के राक्षसी सैनिकों ने अगंद की टाँग को हिलाने की पूरी कोशिश की थी। परन्तु आप अंगद की तरह डटे रहना।'' अब वास्तव में 'अंगद'शब्द 'अंग' और 'द' से बना है। जिसने अपना अंग-अंग परमपिता परमात्मा को दे दिया है, वही सच्चा 'अंगद' है। ऐसी आत्मा को माया हिला नहीं सकेगी बल्कि उसका निश्चय का कदम अचल रहेगा और अवस्था अडोल रहेगी। अत: अडोल रहने की एक युक्ति यह है कि हम अपने अंग-अंग को अर्थात् अपनी सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों को परमपिता परमात्मा के हवाले करके अंगद की तरह राम के दूत, अर्थात् परमपिता का सन्देश दूसरों को देने के निमित्त बनें तो निश्चय ही माया हमारी टाँग नहीं हिला सकेगी और हमारी अवस्था अडोल तथा एकरस रहेगी।

पुनश्च ,शिव बाबा यह भी कहते हैं कि- कोई भी व्यक्ति अपनी दूकान के शो केस (एप्दै र्मै) में जो भी चीज़ रखता है, उसे सँवार कर तथा अच्छा बना कर दर्शनीय नमूने के तौर पर रखता है। ठीक इसी प्रकार, हमें यह समझना चाहिए कि शिव बाबा ने जो ईश्वरीय ज्ञान-यज्ञ अथवा ज्ञान-सेवाकेन्द्र स्थापित किए हैं, मानों हम उसके शो केस के चेतन नमूने हैं जिन्हें देखकर अथवा पसन्द करके ही दूसरा भी कोई व्यक्ति ईश्वर के ज्ञान को लेने का संकल्प अथवा साहस करेगा। अत: हमारे ऊपर बहुत ज़िम्मे-वारी है कि हम अपने जीवनप को नमूने का (आदर्श) अथवा शो केस में रखने के योग्य बनायें। इस प्रकार, यदि हम इन तथा अन्यान्य युक्तियों को अपनयेंगे और सदा अवगुण को त्यागने तथा दिव्य गुणों को धारण करने का दृष्टिकोण बनाये रखेंगे ता हमारे जीवन में श्रेष्ठता, अडोलता और एकरता आयेगी।

जिज्ञासु- यह तो निश्चित है। बहन जी, सचमुच इन दिव्य गुणों की धारणा की बातों को सुन कर मुझे लाभ हुआ है। मनुष्य को गुण-ग्राहक होकर जीवन व्यतीत करना चाहिए, इसमें ही उसका कल्याण है। ऐंठन नहीं गयी

रस्सी को जला दिया जाय तो वह राख हो जाती है, परन्तु उस अवस्था में भी जिन धागों से वह बनी होती है, उनके बल स्पष्ट दिखाई देते हैं; वह बल नहीं जाते। इसी प्रकार, संसार में ऐसे बहुत लोग हैं जो कि अपनेछल, कपट,दम्भ तथा अन्य बुराइयों के कारण दु:ख एवं अशान्ति रूप मानसिक अग्नि में दाह अनुभव करते हैं, परन्तु फिर भी उनकी ये बुरी आदतें मिटती नहीं हैं। ऐसे स्वभाव वाले मनुष्य पशु-तुल्य हैंक्योंकि 'पशु' कहते ही उसे हैं जो पाशों से बँधा हो और ये अपनी बुरी आदतों के डोरों से बँधे हुए ही तो हैं।

आठवां दिन

गुण-ग्राहकता, स्नेह और रहमदिली

ब्रह्माकुमारी- मैंने पिछले सात दिनों में कुछ एक दिव्य गुणों को धारण करने की आवश्यकता, उन-उन दिव्य गुणों को धारण करने वाले के लक्षण और उन गुणों को धारण करने की युक्तियों पर प्रकाश डाला है जो कि शिव बाबा ने हमें गुण-मूर्ति अथवा 'मनुष्य से देवता' बनाने के लिए समय-समय पर दी हें। ऐसे और भी बहुत-से दैवी गुण हैं जिन्हें कि हमें अपने प्रैक्टिकल जीवन में धारण करना चाहिए। जितने अधिक गुण उतना ही अधिक प्रभ-प्रिय और उतना ही बड़ा देवाता और उतना ही अधिक सुख- यह नियम है। परन्तु, सभी दिव्य गुणों को धारण करने के लिए और सभी बुरे गुणों को छोड़ने के लिए मनुष्य में मुख्य रूप से जिसकी आवश्यकता है, वह- 'गुण-ग्राहकता'। गुण-ग्राहकता की यह विशेषता है कि यह सभी दिव्य गुणों की धारणा के लिए धरणी तैयार करता है। जैसे धरणी ठीक किए बिना चाहे कितना भी अच्छा बीज बोया जाय और कितनी भी सिंचाई आदि की जाय, यह बीज फल नहीं देता, उसी प्रकार गुण-ग्राहकता रूपी गुण धारण किए बिना ऐसी धरणी ही तैयार नहीं होती कि अच्छे गुण बोये जा सकें और उन पर किया गया परिश्रम सफल हो। जब तक मनुष्य में दूसरों के गुण देखने तथा उनके अवगुणों को चित पर न लाले का गुण नहीं है तब तक मनुष्य गुणों की सारी चर्चा सुनते हुए भी उनकी धारणा से वंचित रहता है। अत: हर-एक पुरूषार्थी का पहले तो यह संकल्प दृढ़ होना चाहिए कि गुण जहाँ भी हो, जिसमें भी हो-मुझे लेना है और अवगुण रूपी कचड़े को मुझे निकालना है।

जिज्ञासु- बहन जी, मैंने देखा है कि हम दूसरों के गुण इतनी जल्दी हम उनके अवगुणों को देख लेते हैं औरउसे अपने जीवन में ले आते (म्दज्ब करते) हैं। बहन जी, हमें झट ही दूसरों के अवगुण क्यों दिखाई दे जाते हैं और वे हमें जल्दी ही क्यों धारण हो जाते हैं? उनके गुण जल्दी ही हमारे ध्यान में क्यों नहीं आते?

हमें दूसरों के अवगुण जल्दी क्यों दिखाई देते हैं?

ब्रह्माकुमारी- वास्तव में दूसरों के अवगुण दिखाई देने और उन पर विचार चलते रहने का मूल कारण तो लक्ष्य की विस्मृति और अपने जीवन को सुधारने के बारे में अलबेलापन ही है, परन्तु जिसके प्रति मनुष्य के मन में ईर्ष्या या द्वेष होता है, उस व्यक्ति में भी मनुष्य को अधिक अवगुण दिखाई देते हैं और चुभते रहते है। जिसके प्रति उसका स्नेह है, उस व्यक्ति में यदि उसे अवगुण दिखाई देते हैं तो भी अव-गुण उनके चित पर अधिक देर तक नहीं ठहरते। उन्हें देखकर उसके मन में उस स्नेह-भाजनव्यक्ति के प्रति सहानुभूति की भावाना तथा शुभचिन्तन, कि वह और भी अच्छा बने, आती है। परन्तु जिसके प्रति उसके मन में ईर्ष्या या द्वेष होता है, उसके अवगुण उसे अखड़ते अथवा भड़का देते हैं अथवा वास्तविक

मात्रा से अधक लगते हो और वह उन व्यक्तकयों को गिराने की दुर्भावना से उनकी निन्दा भी करने लगता है। और, उनके प्रतक ईर्ष्या-द्वेष के वश होकर वह उनके अवगुणों को अपनी ओर बढ़ा-चढ़ा कर, नमक-तकर्च लगा कर लोगों के सामने रखता है। इस प्रकार, वह मनुष्य सारा दिन कव्वे की तरह गन्द देखता, गन्द चुगता और काँव-काँव करके दूसरों को भी गन्दगी के ढेर की ओर बुला कर इकट्ठा कर लेता है और तब कव्वों की कान्फ्रेंस, मजलिस या मीटिंग शुरू हो जाती है। इसलिए, निन्दक तथा अवगुण-ग्राहक को ज्ञान की भाषा में 'कव्वा' कहा जाता है और उसकी तुलना में गुण रूपी मोती चुगने वाले को 'हंस' तथा ईश्वरीय ज्ञान के दिव्य गुणों के मधुर, सुरीले और रसीले गीत गाकर दूसरों को हर्षाने का कर्तव्य करने वाले को 'ज्ञान-कोकिला' अथवा 'कोयल' (अन्हा चुपर्हुत) कहा जाता है। अब यह हर-एक मनुष्य के अपने ऊपर निर्भर करता है कि वह कव्वा बनना पसन्द करता है या कोयल। वह काँव-काँव करके दूसरे के सिर में भी दर्द पैदा करना चाहता है या हंस की तरह मोती चुगना चाहता है तथा कोयल की तरह दूसरों को ज्ञान-गीतों से बहला कर गद्गद् करना चाहता है।

जिज्ञासु- बहन जी, आपन बताया कि अवगुणों पर ध्यान जाने का मुख्य कारण लक्ष्य की विस्मृति, अर्थात् यह विस्मृति है कि मनुष्य को कौड़ी-तुल्य से हीरे-तुल्य अथवा 'मनुष्य से देवता' बनना है। दूसरे, आपने बताया है कि ईर्ष्या-द्वेष के कारण भी मनुष्य का अवगुणों पर ध्यान जाता है जबकि स्नेह से मनुष्य गुणों पर ध्यान देता है। परन्तु बहन जी, यह भी बताइये कि मनुष्य में ईर्ष्या-द्वेष और लक्ष्य की विस्म:ति क्यों होती है और अब उसका निवारण कैसे हो ?

ईर्ष्या-द्वेष तथा निन्दा वाला मनुष्य प्रभु के मन में ठौर क्यों नहीं पाता ?

ब्रह्माकुमारी- लक्ष्य की विस्मृति तथा ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य में देह-अभिमान के कारण पैदा होते हैं। और, इन सबका कारण मनुष्य की कुछ तृष्णाओं (चाहे वह मान की इच्छा हो, चाहे और किसी भी चीज़ की प्राप्ति की इच्छा हो) की पूर्ति का न होना हो। चदि मनुष्य की किसी व्यक्ति से कोई आशा हो और वह आशा पूरी न करे तो वह उस व्यक्ति से रूठ जाता है और यही रूठना आगे जाकर ईर्ष्या, द्वेष, अव-गुण-दर्शन, निन्दा, विरोध तथा किसी भी तरह उस व्यक्ति को सबकी दृष्टि से गिराने या उसे सबसे अलग करने एवं नीचा दिखाने का एक रूप धारण कर लेता है। ईर्ष्या-द्वेष वाला मनुष्य किसी व्यक्ति के पीछे ही पड़ जाता है और जहाँ भी उस व्यक्ति की चर्चा शुरू हो, वहाँ ही वह उसकी ग्लानि करना अपना धर्म-कर्म समझ कर उसकी निन्दा शुरू कर देता है। तब उसे यह भी सुध-बुध नहीं रहती कि इस अवगुण-मनने, एवं दुर्गुण-चिन्तन से तथा दोष-वर्णन से वह पाप को इकट्ठा कर रहा है और अपने ही जीवन को पतन की ओर ले जा रहा है, बल्कि वह समझता है कि वह अपने द्वेष-पात्र को ही 'मजा चखा रहा है' अर्थात् गिरा रहा है अथवा उसका ही भण्डा फोड़ रहा है यद्यपि वह वास्तव में अपना ही

भाग्य फोड़ रहा होता है।
इस प्रकार, वह जिसकी निन्दा करता है, उससे तो वह हट जाता है ही, परन्तु वह धीरे-धीरे प्रभु के चित से भी हट जाता है क्योंकि प्रभु के मन में निन्दक ठौर नहीं पाता, कारण कि प्रभु से तो लोग यह प्रार्थना करते हैं कि- ''प्रभु जी, मोरे अवगुण चित न धरो'' जबकि निन्दक अवगुण-ग्राहक ही होता है।
जिसे जीवन के लक्ष्य की स्मृति है, वह अपकारी पर भी उपकार करता है
इसके विपरीत, जिस मनुष्य को लक्ष्य की स्मृति होती है, वह सबको स्नेह की दृष्टि से देखता है और यदि उसे कहीं अवगुण दिखाई भी देता है तो वह सहनशीलता को छोड़ कर 'आपे से बाहर' (दिव्य मर्यादा से बाहर) नहीं होता बल्कि वह रहमदिल (करूणाशील अथवा दयालू) होकर उसके अवगुण को प्रभु की तरह अपने चित पर नहीं लाता और उसके अवगुण को हरने और उसमें गुण भरने का यत्न करता है। लक्ष्य-स्थित मुनष्य की यों तो कोई इच्छा होती नहीं है, पर यदि कोई इच्छा होती भी है तो यदि कोई व्यक्ति उसकी वह इच्छा पूरी नहीं करता अथवा यदि कोई उससे बुरा करता है, तो भी वह उस अपकारी पर भी उपकार करने की भावना बनाए रखता है।
जैसे गुलाब का फूल काँटों में रहते हुए भ सुगन्ध देता है वैसे ही ज्ञानवान् मनुष्य अपी निन्दा सुनते हुए भी अपने हर्षित मुख(सूरत से) और निन्दक को भी मित्र समझने की सीरत (स्वभाव) से दूसरों को दिव्य गुणों रूप सुगन्धि देता है।
अवगुण-ग्राहक का संग बहुत ही हानिकारक है
अवगुण-ग्रहण करने वाला मनुष्य स्वयं तो रूठता है ही, परन्तु वह जहाँ-जहाँ भी जाता है गन्दगी अवश्य फैलाता है। और, इस प्रकार, कई लोगों के मन को एक-दूसरे के प्रति खराब करता है, कइयों की आपस में अनबन अथवा मनमुटाव या नफरत (घृणा) पैदा करता है तथा उनमें लून-पानी, मत-विरोध (ॅ्रल्हग्ब) तथा क्लेश फैलाता है। अत: ऐसे व्यक्ति का संग बहुत ही बुरा है। जैसे निन्दक स्वयं प्रभु के मन में ठौर नहीं पाता, वैसे ही अपने कुसंग से वह दूसरों को भी बिगाड१ कर प्रभु से विमुख कर देता है और माया का पक्का मुरीद बना देता है।
अत: दिव्य गुणों को धारण करने के लिए सबसे पहले तो गुण-ग्राहकता का गुण होना जरूरी है। जिस मनुष्य का ईश्वर के प्रति समर्पण हुए मनुष्यों से, अर्थात् दिव्य परिवार से और यों सारे संसार से भी रूहानी एवं नि:स्वार्थ स्नहे होगा, वह बड़ी तीव्र गति से गुण धारण करते हुए प्रभु के दिल पर भी चढ़ेगा, दैवी परिवार के दिल पर भी चढ़ेगा और संसार के लोगों के भी मनपसन्द बनेगा अर्थात् उनके भी दिल पर चढ़ कर सतयुगी विश्व के तख्त पर चढ़ेगा। यदि स्नेह नहीं तो दिव्य गुण नहीं और यदि दिव्य गुण नहीं तो वह देवता भी नहीं बन सकेगा और दूसरों के दिल पर भी नहीं चढ़ सकेगा। और, इसलिए, तख्त पर चढ़ने का वोट भी उसे नहीं मिलेगा और वह देवता की बजाय 'बैंगन' (बे-गुण) बन जाएगा।

अवगुण-दृष्टि को छोड़ने तथा गुण-ग्राहक बनने के लिए क्या याद रखना और जानना जरूरी है?
ज्ञानवाल् मनुष्य यह तो जानता ही है कि अब कलियुग का अन्त है और सभी मनुष्यों में अवगुण तो भरे हुए हैं ही। इसलिए ही तो वे नित्य-प्रति गाते हैं- ''मैं अवगुणहारी, को गुण नाहीं, आपे ही तरस पेयोई रे'', अथवा ''प्रभुजी मोरे अवगुण चित न धरो'', अथवा ''हे प्रभु मैं नीच हूँ,खल हूँ, कामी हूँ।'' अब सारी सृष्टि में अवगुण अथवा तमोगुण प्रधान है और सभी देवपद तथा मनुष्यता से भी गिर कर, आसुरी लक्षणों से युक्त होने के कारण बिल्कुल 'असुर' बन गए हैं, तभी तो रहमदिल परमात्मा का आना पड़ा है। परन्तु फिर भी किसी-न-किसी दिव्य-गुण अथवा सद्गुण की थोड़ी-बहुत रेखा हरेक में रह गई है। क्योंकि, यदि पूरी रीति से गुणों का अन्त हो जाता जब तो परमात्मा के भी अवतरण का कोई लाभ न होता क्योंकि उसका कर्तव्य भी यही है कि दबे हुए, क्षीण हुए, विस्मृति तल पर गए हुए अथवा प्राय: लोप हुए दिव्य गुण हैं, उन्हें वह जागृत करता है, फिर से उभारता है, स्मृति दिलाता है और उनका विकास करने का ज्ञान देता है। अत: अवगुण दृष्टि छोड़ने के लिए एक तो हमें इस बात का हमेंशा ख्याल रखना चाहिए कि- ''यों तो हर-एक मनुष्य में बहुत ही अवगुण भरे हुए हैं, स्वयं मुझमें भी बहुत अवगुण हैं क्योंकि अब तो सृष्टि की तमोप्रधान अवस्था है, परन्तु हर-एक में कुछ-न-कुछ गुण तथा कुछ-न-कुछ अच्छाई भी अवश्य रही हुई है। अब मुझे उसके अवगुणों को न देखना है, न सुनना है और न उनका वर्णन करना है, न ही उन्हें मन में धारण करना है क्योंकि यह कर्म गिराने वाला है और अब पतित-पावन परमात्मा का मेरे लिए आदेश है कि न बुरा देखा (एा हद ान्त), न बुरा सुनो (र्पै हद ान्त), न बुरा कहो (एर्जे॰ हद ान्त), न बुरा सोचो (ऊप्हव् हद ान्त), और न ही बुरा करो (अ्द हद ान्त)। बुरा देखने और करने से तो मनुष्य बुरा ही बनता है। अत: हरेक में जो थोड़ा-बहुत गुण है, मुझे तो अब उसे ही देखना है और धारण करना है। ऐसी धारणा से ही मनुष्य में गुण-ग्राहकता का दृष्टिकोण अथवा गुण आएगा।

स्वयं में स्नेह तथा गुण-ग्राहकता लाने की युक्ति

मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि हम सब आत्माओं की एक ही बड़ी फैमिली (ईंस्त्ब्,कुटुम्ब) है। हम सभी आत्मिक नाते से आपस में भाई-भाई हैं। इस दृष्टिकोण से मनुष्य में दूसरे के प्रति अपनेपन का भाव आएगा और एक तो उसका स्नेह परमात्मा से जुटेगा जो कि हमारी इस फैमिली (कुटुम्ब) का अभिभावक (उर्ल्ंह) अथवा परमापिता है और दूसरे अन्य सभी के प्रति भी हमारे मन में शुभ-चिन्ता, भ्रातृभाव, सहानुभूति और स्नेह की उत्पति होगी। हम सोचेंगे कि- ''न केवल हम सभी अब एक पर-मात्म की सन्तान हैं और आपस में भाई-भाई हैं बल्कि सतयुग और त्रेतायुग में भी हम सबका एक कुटुम्ब के स्वजनों-जैसा सम्बन्ध तथा प्यार था। बाद में ही माया ने हममें भेद-भाव तथा ईर्ष्या-द्वेष पैदा किया और अब स्वयं परमपिता ने फिर हमें पहचान दी है कि- '' आप सभी आत्माएँ आपस में भाई-

भाई हो, इसलिए सभी आपस में प्रेम से, क्षीर-शक्कर (खीर-खाण्ड) हो कर रहो।'' तो इस बात को याद रखते हुए हमारा स्नेह उस परमपिता परमात्मा से जुटेगा और सभी आत्माओं से भी जुटेगा। मनुष्य को जिससे प्राप्ति होती है और जिसमें वह गुण देखता है, उससे तो उसका स्नेह स्वत: ही जुटता है। अत: परमात्मा से तो हमारा स्नेह जुटना ही चाहिए और जुटेगा भी। परमात्मा से जितना स्नेह जुटेगा, उतनी उसकी याद आयेगी और जितनी परमात्मा की याद आयेगी उतना ही हममें परमात्मा के लिये प्यार तथा प्रेम भी पैदा होगा क्योंकि वह तो है ही प्यार का सागर और रहम-दिल बादशाह। उससे तो सब प्रार्थना करते हैं- ''ध्उद् ईंपे सिम्ब दह स!'' अर्थात् ''हे परमात्मा, हम पर रहम करो'' - ''हे दयालु प्रभु, दया करो!'' तो यदि परमात्मा से हमारा स्नेह है तो हमें परमात्मा की बात माननी ही चाहिए क्योंकि स्नेह का सबूत (प्रमाण) ही यह है कि जिससे उसका स्नेह होता है उसकी बात वह मानता है और जिस गुण को देखने के कारण वह व्यक्ति उसे अच्छा लगता हे अथवा स्नेह-पात्र मालूम होता है वह गुण भी वह व्यक्ति अपने में धारण करना चाहता है। तो जबकि परमात्मा को हम 'रहम दिल' अथवा 'प्यार का सागर' होने के कारण प्यार करते हैं तो उसके प्यार रूपी गुण को तथा 'रहम-दिली' को भी हमें अपने जीवन में धारण भी तो करना चाहिए। जैसे अब परमपिता परमात्मा बिल्कुल अवगु-णधारी आत्माओं के अवगुणों को चित पर न धारण करके, ज्ञान और गुण दान करने कारहम उन आत्माओं पर कर रहे हैं, वैसे ही हमें भी दूसरों के अवगुण न देखकर उन पर रहमदिल बनना चाहिए। अर्थात्, हमें एक-दूसरे को ईश्वरीय स्मृति और सावधानी देते हुए, हर-एक का सहयोगी बनना चाहिए और गुण-मूर्ति बनना चाहिए। दूसरों के अवगुण देखना तो स्वयं को स्वयं ही बड़ा काँटा चुभाना है, और दूसरों के आगे उन अवगुणों का वर्णन करना गोया उन्हें भी काँटा मार कर ज़ख्मी करना अथवा माया मूर्छित करना है। परन्तु अब जबकि परमात्मा इस कलियुगी काँटों के जंगल को सतयुगी बग़ीचे में बदल रहे हैं और हम सभी को काँटे से फूल बना रहे हैं, तो हमें भी दूसरों से दिव्य गुण लेकर फूल बनना चाहिए और काँटेपन का स्वभाव अब छोड़ देना चाहिए वर्ना धर्मराज के दरबार में हमें भी काँटे और चाँटे लगेंगे। अत: ऐसा पुरूषार्थ भी क्या कोई पुरूषार्थ है जिससे कई गुणा सज़ा (दण्ड) भोगनी पड़े!

जिज्ञासु- बहन जी, निस्सन्देह करूणा अथवा रहमदिली और स्नेह तो बहुत ही बड़े दिव्य गुण हैं और दूसरों के अवगुण देखना५ यह तो बहुत ही बड़ा अवगुण है। परन्तु बहन जी, मुझे कुछ और अधिक स्पष्ट रीति से समझाइये कि दूसरों का अवगुण देखने की वृति क्या-क्या रूप ले लेती है, अवगुण ग्रहण करने से क्या-क्या हानियाँ होती हैं और अवगुण ग्रहण करने वाले मनुष्य के क्या लक्षण अथवा चिह्न हैं जाकि हम उसके कुसंग से बच कर रहें और स्वयं भी इस दुर्गुण से दूर रहें?

ब्रह्माकुमारी- अवगुण देखने वाले अथवा दोष-दृष्टि वाले मनुष्य की मनोवृति कई रूप धारण करती है।

दूसरे के दोष अथवा अवगुण देखकर यदि वह उसे अपने में धारण कर लेता है तो वह अवगुण उसे काँटे की तरह चुभता (झ्हम्प् करता) है। उदाहरण के तौर पर कोई व्यक्ति सदा रूखा बोलता है या कार्य करने के लिए 'न' कह देता है तो उसके इस दुर्गुण को देख कर मन में धारण करने वाले व्यक्ति कोउस व्यक्ति की यह बात चुभेगी (झ्हम्प् करेगी)। वह उस व्यक्ति के इस स्वभाव को बार-बार देख-कर और मन में धारण करके उसे महसूस करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि वह स्वयं ही अशान्त हो जाएगा और उसको उतेजना होगी और वह सोचेगा कि- ''अब मैं कभी इस व्यक्ति को मज़ा चखा-ऊंगा अथवा 'सीधा करूँगा'। इस सोच-विचार में वह अपनी अवस्था को बिगाड़ेगा और परेशानी को भी बढ़ाएगा और भारीपन भी महसूस करेगा।

फीलिंग फलू की बीमारी है

अत: शिव बाबा कहते हैं कि इस प्रकार दोष-दर्शन से जो महसूसता (झ्ाात्ग्हु) होती है, मानोकि यह फलू (इत्ल्) की बीमारी है। जिस मनुष्य को फलू (इत्ल्) की बीमारी होती है, उसका भी ऐसा ही हाल होता है क्योंकि उसका भी बदन टूटता, रग-रग में कुछ दर्द महसूस होता, न चाहते हुए भी चिड़चिड़ापन अथवा तंगी महसूस होती, मुख कड़वा होता और बुखार चढ़ जाता है। इसी प्रकार, फीलिंग (महसू-सता) वाले मनुष्य को भी व्यर्थ संकल्प-विकल्प चलने से बुदिध् में भारीपन महसूस होता है, दूसरे व्यक्ति के बुरे स्वभाव को देख-देख कर उसे थकावट तथा रग-रग में दर्द-सा महसूस होता है और वह पुरूषार्थहीन होकर पड़ जाता है। अत: जैसे हम फलू (इत्ल्) की बीमारी से बचने की कोशिश करते हैं और फिर भी यदि फलू हो जाए तो उसके लिए औषधि-उपचार करते हैं, वैसे ही हमें फीलिंग अर्थात् महसूसता (कुड़कुड़ेपन) की बीमारी से भी सदा बच कर रहना चाहिये। फलू की बीमारी एक को दूसरे से भी लगती है, वैसे ही यह महसूसता की बीमारी भी फैलती है। अत: एक तो अवगुण-दर्शन तथा अवगुण ग्रहण करना छोड़ देना चाहिये क्योंकि इसी कीटाणु से यह बीमारी लगी है। फिर भी यदि किसी कारण से यह बीमारी हो जाती है तो हमें परमपिता परमात्मा के प्रति स्नेह, दैवी सिजरे (ईश्वरीय परिवार अथवा ज्ञानवान लोगों के कुटुम्ब) से स्नेह और ईश्वरीय चरित्रों को सुनने के प्रति स्नेह को जागृत करना और फिर से जोड़ना चाहिए और रहमदिल बनना चाहिए। उस व्यक्ति के किसी अच्छे गुण की ओर ध्यान देकर फिर उसके प्रति स्नेह को मन में लाना चाहिए और उसमें जो दुर्गुण है,ख् उसके लिए स्वयं रहमदिल बनना चाहिये क्योंकि अपने या दूसरों के अवगुणों को काटने का एकमात्र तरीका दिव्य गुण धारण करना है।

जिज्ञासु- बहिन जी, फीलिंग (झ्ाात्ग्हु) को फलू (इत्ल्) की बीमारी से तुलना करके आपने अवगुण-धारण की वृति अथवा दोष-दृष्टि के इस रूप को बहुत स्पष्ट किया है। बहन जी, किसी की बात को महसूस करने को अंग्रेजी भाषा में कहा जाता है- ''ग्त्त्-ाात्ग्हु'' अथवा ''ऊर्द्ूव ग्त्त'' और बीमार हुए

मनुष्य के लिए भी ऐसा ही कहते हैं। कहते हैं कि ''प ेगात्हु ग्त्त''। अत: महसूसता की फलू (इत्ल) के साथ तुलना तो बिल्कुल ठीक है और यह तुलना हमारे मन को इससे बचकर रहने के लिए प्रेरित करती है। बहन जी, अवगुण-दर्शन अथवा दोष-दृष्टि का दूसरा रूप क्या है?

रूठना- किसी व्यक्ति से, ज्ञान से और स्वयं ईश्वर से

ब्रह्माकुमारी- इसका दूसरा रूप है- रूठना। जब मनुष्य किसी व्यक्ति के व्यवहार में अपने प्रति कोई दुर्गुण देखता है तो वह उस व्यक्ति से रूठ जाता है। कई बार वह किसी ज्ञानवाल व्यक्ति में कोई अव-गुण देखकर इतना रूठता है कि कहने लगता है- ''क्या यह किसी ज्ञानी के लक्षण हैं, क्या ज्ञान यही कहता है?'' इस प्रकार, वह उसी ज्ञानवान व्यक्ति के अवगुण को धारण करके (स्म्ह् करके) उससे इतना रूठता है कि वह ज्ञान से भी रूठ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह ईश्वर (जो ही यह ज्ञान देता है और जिसका ही रचा हुआ यह दैवी परिवार है) से भी हट जाता अथवा रूठ जाता है। इस सबका नतीजा यह निकलता है कि वह अपनी ही पुरूषार्थ और भाग्य से भी रूठ जाता है। एक दुर्गुण के दर्शन करके, वह ईश्वर के दर्शन (ज्ञान) तथा स्व-दर्शन (आत्म-ज्ञान) से भी रूठ जाता है और इससे उसकी इतनी भारी क्षति होती है कि वह स्वयं को दैवी विश्व के राज्य-भाग्य से भी स्वयं ही वचिंता कर लेता है!!

जिज्ञासु- सचमुच यह तो बहुत बड़ी क्षति है!

ब्रह्माकुमारी- इसीलिए ही तो इसे 'घातक बीमारी' कहा जाता है। आज तक कितने ही व्यक्ति किसी के भाव (विचार) या स्वभाव (संस्कार) में अवगुण देखकर माया के साथ हो रहे युदध् के मैदान से भाग गये हैं और ऐसे 'भागन्ति' (भागने वाले) लोग गोया अपने भाग्य से भाग गये हैं। अत: शिव बाबा बार-बार सावधानी देते हैं कि भाव-स्वभाव (दुर्गुण देखने) की बीमारी से बच कर रहो, यह बहुत कड़ी (ईूँत) बीमारी है। शिव बाबा कहते हैं- ''आप सदा यही याद रखो कि अभी कोई सम्पूर्ण अथवा परिपूर्ण तो नहीं बना है। बल्कि, सभी में कोई-कोई कमी, कमजोरी या त्रुटि रही हुई है। अत: आप संपूर्ण बनने के लक्ष्य को सामने रखो औरइन कमी वाले पुरूषार्थियों को न देखो क्योंकि ये आप के लिए 'आदर्श' या 'जीवन का लक्ष्य 'उन पर दृष्टि रखोगे तो उनके गिर जाने पर फिर क्या करोगे? सम्पूर्ण तो एक परमपिता परमात्मा है, उसे ही हमेशा हमें अपने सामने रखन चाहिये और उसके बाद मनुष्य-सृष्टि में जो सर्वाधिक ज्ञान-गुण प्रवीणा हैं, जिन्हें 'प्रजापिता ब्रह्मा' तथा 'जगदम्बा सरस्वती' के नामों से याद किया जाता है, उन्हें ही सामने रखना चाहिये। हमें दूसरों के अवगुण देखने की बुरी आदत को छोड़कर यह देखना चाहिये कि इन दो व्यक्तियों में जो दिव्य गुण थे, क्या वह हममें हैं।

एक चित्रकार जब किसी व्यक्ति का चित्र (इर्द्गूग्) बनाने अथवा नकल (म्दज्ब्) करने लगता है तो वह उस व्यक्ति के साथ अपने बन रहे चित्र की तुलना करता है कि इसकी ऑखें, चेहरा, मूड (श्दद्),

बैठक, झलक आदि-आदि उस व्यक्ति की तरह हैं या नहीं। ठीक, इसी प्रकार, हमें भी पिता-श्री ब्रह्मा (बाबा) तथा मातेश्वरी सरस्वती (मम्मा) के जीवन के साथ अपने जीवन की तुलना करनी चाहिये कि हमारा मूड बार-बार छुई-मुई नामक पौधे की तरह बदलता तो नहीं? क्या वह बाबा और मम्मा के मूड की तरह सदा एकरस हर्षयुक्त रहता है? जैसे उनके नेत्र नेष्ठी और निर्दोष (ण्न्त) तथा स्नेह-युक्त (थ्दन्ल्ि) थे, क्या वैसे हमारे हैं? जैसे उनके हर कर्म में दिव्यता की झलक थी, वैसे हमारे जीवन में है या नहीं? यदि इस प्रकार का कोई लक्ष्य हम अपने सामने रखेंगे और अपने ही अवगुणों को निकाल कर कमियों को निकालने में हम लग जाएँगे तो न हमें अवगुण-दर्शन का अवकाश मिलेगा, न ही ऐसा भाव उठेगा।

जिज्ञासु- उनके चित्र को सामने रखकर अपन चरित्र बनाने की युक्ति ता आपने बहुत ही अनमोल बताई है। वास्तव में बात तो यही है कि हमें जैसा चित्र सामने रखकर बनाना चाहिए, वह न रख कर हम गलत चित्र सामने रख लेते हैं। बहन जी, अवगुण ग्रहण करने की वृति और क्या रूप धारण करती है?

ब्रह्माकुमारी- दोष-दृष्टि अथवा अवगुण ग्रहण करने की वृति बहुत बार मिथ्या अनुमान का रूप भी धारण कर लेती है।

जिज्ञासु- इसका क्या भावार्थ है?

ब्रह्माकुमारी- इससे मेरा अभिप्राय यह है कि कई बार मनुष्य किसी व्यक्ति के बारे में ग़लतफहमी में पड़ जाता है। उस व्यक्ति के चलन और जीवन को देख कर उसमें उसे किसी दोष का अनुमान होता है यद्यपि उसका वह अनुमान ग़लत होता है। उस अनुमानित दोष के प्रमाणित हुए बिना ही वह अपने अन्दाजे (अनुमान) के आधार पर किसी व्यक्ति को बुरा मान लेता है और उससे व्यवहार करते समय अपनी दृष्टि और वृति में वह उसके अनुमानित अथवा मन-गढ़न्त अवगुण भरे रखता है।

उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि किसी व्यक्ति ने किसी मनुष्य को अपने घर में भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। अब अवगुण-ग्राही मनुष्य यह अनुमान लगाने लगता है कि उस व्यक्ति का अवश्य ही कोई स्वार्थ होगा और वह उसे भोजन के बहाने से घर बुला कर खिला-पिलाकर उससे कोई काम निकालना चाहता होगा। वास्तविका तो यह है कि उस मनुष्य ने स्नेह से निमन्त्रण दिया परन्तु अनुमान लगाकर दोष-दर्शन करने वाला मनुष्य अपने मन में ही उसके स्वार्थ रूप दोष का मिथ्या अनुमान करके फिर दूसरों को भी बताता फिरेगा- ''अजी, यह बड़ा स्वार्थी आदमी है। मुझे भी इसने भोजन के निमन्त्रण दिया था और चालाकी से मुझसे अपना काम निकालना चाहता था।'' इस तरह किसी व्यक्ति में दोष की कल्पना करना; यह अवगुण-दर्शन का एक विचित्र परन्तु बहुत व्यापक रूप है। आज सभी लोग एक-दूसरे के बारे में कल्पित या सुनी-सुनाई बुराई करके दूसरों की दृष्टि से गिराने का दुष्कर्म

करते रहते हैं।

रामायण की कथा से हम एक सुन्दर उदाहरण ले सकते हैं। मन्थरा ने अनुमान किया कि यदि राम राजा बन गए तो वे कैकयी को दासियों की तरह रखेंगे और भरत तथा शुत्रघ्न को भी उनके सेवाकें की तरह रहना पड़ेगा। इस मिथ्या अनुमान के बाद उसने जाकर कैकेयी के ऐसे कान भरे कि कैकेयी ने अपने पति दशरथ की भी एक न सुनी। परिणाम कितना भयंकर हुआ? राम को वनवास दिला दिया, भरत का राम से विछोह कर दिया, दशरथ के इसी कारण प्राण चले गये और सब जगह अशान्ति व दु:ख की लहर फैल गई। तो देख लीजिए, मन्थरा के मिथ्या अनुमान अथवा दोष की कल्पना का नतीजा!! फिर कैकेयी ने भी उस मिथ्या अनुमान पर विश्वास कर लिया! आज भी लोग सुनी-सुनाई तथा अनुमानित, कल्पित और मन-गढ़नत बातों पर सहज ही विश्वास कर लेते हैं और स्वयं अपने विवेक से काम नहीं लेते तथा अपने प्रियवर, स्वजन एवं सुहृदयों की भी बात नहीं सुनते जैसा कि कैकेयी ने दशरथ की बात नहीं सुनी!!

किंचित सेचिए कि मन्थरा ने मिथ्या अनुमान क्यों किया? चूँकि वह कैकेयी की दासी थी, अत: कैकेयी के पुत्र भरत के राजा बनने में ही उसका अपना स्वार्थ पूरा होता था, और कैकेयी की सौतिन कौशल्या के प्रति कैकेयी तथा मन्थरा के मन में ईर्ष्या पैदा हुई और स्वार्थ के कारण द्वेष पैदा हुआ, द्वेष से राम में दुर्गुण दिखाई देने लगे और उसका बदला उसने यह लिया कि राज्य-भोग छुड़ाने के अति-रिक्त उसे वनवास भी दिया।

जिज्ञासु- बहन जी, मैंने तो मिथ्या अनुमान की ओर कभी ध्यान तक न दिया था। पहली बार ही मुझे इस दुर्गुण का अथवा दोष-दृष्टि के इस रूप का पता चला है। बहन जी, सचमुच, यह तो बहुत भयंकर है! इसने तो सारा घर नष्ट करा दिया और निर्दोष राम को वनवास दिलाकर सचमुच महापाप कर दिया।

ब्रह्माकुमारी- देखिए न, राम, जिसे आज करोड़ों लोग इतना महान् मानते हैं, उस जैसे व्यक्ति में भी दोष देख कर उसे कैकेयी की दृष्टि से इतना गिरा दिया! रामायण की इस कथा तो ऐतिहासिक मानें या न मानें, परन्तु हम तो इस कथा कायह आध्यात्मिक भावार्थ आपको बता रहे हैं और यह जतलाना चाहते हैं कि ऐसे किस्से आज संसार में लाखों होते हैं।

जिज्ञासु- होते हैं, यह मैं मानता हूँ और जानता भी हँ, परन्तु हमने कभी इस विषय का अनुशीलन नहीं किया था और इसकी गहराई में जाकर यह नहीं समझा थाकि यह कौन सा दुर्गुण है और इससे क्या - कुछ परिणाम निकल सकते हैं। खैर, बहन जी, दोष-दृष्टि तो सचमुच बुरी बला है। अब यह बताइए कि इस बला से छूटें केसे अथवा अब गुण-ग्राहक वृति को धारण कैसे करें?

ब्रह्माकुमारी- वह तो मैं बताऊंगी, परन्तु पहले यहसमझ लीजिए कि अवगुण-दर्शन अथवा दोष-दृष्टि

का संस्कार ज्ञान-मार्ग में दो और भयंकर रूप भी धारण कर लेता है।
जिज्ञासु- वह कौन से ?
ब्रह्माकुमारी- एक तो अवगुण देखने वाले मनुष्य के मन में कुछ के बाद दूसरों के अवगुण इतने भर जाते हैं कि वह अपनी अवस्था से निराश हो जाता है। वह युक्ति-युक्त रीति से पुरूषाथ करने की बजाय दूसरों की बुराई देखने में लगे रहने के कारण अपनी आध्यात्मिक प्रगति न देखकर अपने ही बारे में ना-उम्मीद (इल्ल्ूि) तथा हताश हो जाता है। शुरू-शुरू में वह पवित्रता का तथा देवपद की प्राप्ति का उम्मीदवार (ण्ह्गी) होता है और, इसलिए, बड़े उत्साह से पुरूषार्थ करता तथा माया के अनेक परीक्षा-पत्रों को पास करता हौ, परन्तु चलते-चलते अवगुणों के कारण बुदिध् बिगड़ जाने से वह उम्मीदवार ही नहीं रहता। तो जो किसी परीक्षा में उम्मीदवार, (ण्ह्गी) ही न बने, वह परीक्षा क्या देगा, पस कैसे होगा और उच्च पद कैसे पा सकेगा ? इस प्रकार, वह अपने आप में बहुत अवगुण देखने लगता है और सोचता है कि- ''मैं तो सुधरने वाला हूँ ही नहीं, चलो छोड़ो ज्ञान और पुरूषार्थ को; मैं जैसे पहले था वैसे ही ठीक हूँ, जो सारी दुनिया के साथ होगा, वह मेरे साथ भी होगा। कोई पर-वाह (चिन्ता) नहीं है।''
दूसरे, यदि वह किसी मनुष्य में अवगुण देखता है तो उनसे बिगड़कर बोलता है, उसे डाँटना-डपटना भी शुरू कर देता है और कहता है- ''मैं इसे सीधा कर दूँगा। इसकी ऐसी की तैसी!! इसने समझ क्या रखा है ? मैं इसका दिमाग़ ठीक कर दूँगा!'' वह यह नहीं समझता कि- मेरा अपनी भी दिमाग़ खराब है तथी तो मैं अवगुण देखता हूँ। मैं इसे क्या सीधा करूँगा, स्वयं धर्मराज मुझे भी सीधा करेगा क्योंकि किसी को डाँटना-डपटना या उससे झगड़ाबाजी करना-यह तो विधान (थ्ै) को अपने हाथ में लेना है। किसी को दण्ड देना तो न्यायालय का काम है।
जिज्ञासु- संसार में तो अज्ञानी लोग भी जब किसी को दोष देखते हैं तो वह वे सरकार को ही रिपोर्ट (िंज्दू) करते हैं अर्थात् या तो पुलिस में रिपोर्ट दर्ज कराते हैं और या न्यायालय में दावा करते हैं। यदि वे कानून को अपने हाथ में ले लेते हैं तो स्वयं भी अपराधी ठहराए जाते हैं।
ब्रह्माकुमारी- तो देखिए, इस दोष-दृष्टि के कारण मनुष्य विधि-विधान और मान-मर्यादा को भी भूल जाता है। ईश्वर का भी हाथ छोड़कर अनाथ हो जाता है और इतना घाटा कर लेता है।
जिज्ञासु- जी!
ब्रह्माकुमारी- अब सुनिए कि किन युक्तियों द्वारा मनुष्य को गुण-ग्राहक वृति को धारण करने में सहा-यता मिल सकती है।
पहले तो मनुष्य को सदा यह याद रखना चाहिए कि- ''मैं ईश्वर की सन्तान हूँ।'' जैसे राजकुल (ंर्द्ब ईस्त्ब) के किसी बालक को यह याद रहने से उसका इस बात पर ध्यान रहता है कि मुझे राजकुलो-

चित (ंर्ब्ब) संस्कार अथवा आदतें धारण करनी हैं, वैसे ही मनुष्य को यदि यह याद होगा कि- ''मैं तो ईश्वर की सन्तान हूँ'' तो वह ईश्वरीय गुण धारण करने की बात पर ध्यान (ूाहूग्दह) देगा और जब किसी बात पर मनुष्य का पूरा ध्यान (ूाहूग्दह) जाता है तभी तो वह पूरूषार्थ करता है। अत: प्रात: उठते ही, चारपाई से उतरने और धरती पर पाँव रखने से भी पहले, कमरे में नज़र घूमाने से भी पहले, अर्थात् प्रात: सबसे पहले यह स्मृति ताज़ा (ीिप) करनी चाहिए कि- ''मैं ईश्वर की सन्तान हूँ।'' प्रात: अमृत-वेले जबकि मन भी ताज़ा होता है, वातावरण भी सतोप्रधान होता है, यह संकल्प रूपी बीज मन में बो देने से बाद में भी यह स्मृति बनी रहेगी। फिर भी चलते-फिरते,बीच-बीच में इतना मात्र भी मनुष्य इस स्मृति को ताज़ा करता रहे कि- ''मैं ईश्वर की सन्तान हूँ (ईश्वर शब्द को बहुत ही रस से और प्यार से याद करे) तो उसे अन्दर ही अन्दा यह चेतना मिलती रहेगी कि मुझे ईश्वरीय लक्षण धारण करने हैं। ईश्वर को सब प्यर करते हैं क्योंकि वह प्यार का सागर, क्षमा का सागर, कल्याणकारी और रहमदिल है। । अत: मुझे भी प्रेमस्वरूप, शान्तिस्वरूप, रहमदिल, क्षमाशील, कल्याणकारी, परोपकारी, उदार-चित तथा महादानी बनना है। परमात्मा सबको इसलिए तो आकर्षित करता है कि वह ज्ञान-मूर्ति और प्रेम-मूर्ति है और, इस प्रकार, सबका प्यारा तथा सबसे न्यारा है। अब मुझे भी ज्ञान-मूर्ति, दिव्य गुण-मूर्ति और प्रेम मूर्ति बनना है।

फिर मनुष्य को यह भी याद रखना चाहिए कि मेरा लक्ष्य श्री-लक्ष्मी और श्री-नारायण के समान, १६कला सम्पूर्ण (साढ़े पन्द्रह कला भी नहीं, पूरे १६ कला सम्पूर्ण) तथा सर्वगुण सम्पन्न बनना है। जितने गुण मैं धारण करूँगा, उतना ही लक्ष्य के निकट आऊंगा। अत: जैसे कोई मनुष्य शीशे में चेहरा देखता है कि बाल ठीक बने हुए हैं, सुरमा ठीक है और चेहरा साफ है, आदि-आदि, वैसे ही हमें अपने मन रूपी दर्पण में, प्रतिदिन ज्ञान स्नान करने के बाद, सारे दिन के कार्य के लिए तैयार होने के लिए पहले जाँच लेना चाहिए कि जो-जो मुख्य गुण हैं (इनमें से कुछ इसी सप्ताह मैंने आपको बताए हैं), वह मैं ने ठीक धारण किये हुए हैं? फिर दिन-भर में भी जैसे कोई फैशनेबल व्यक्ति जेब में से छोटा५सा आईना निकाल कर देखता रहता है अथवा चेक करता रहता है कि कहीं बाल बिगड़ तो नहीं गए, चेहरा साफ तो है, वैसे हम भी तो श्री-लक्ष्मी और श्री-नारायण की तरह फैशनेबल अर्थात् 'बने-सवंरे' हुए बन रहे हैं। अत: हमें भी दिन-भर में कई बार चेक करना चाहिए कि क्या हम में सब गुण धारण हुए-हुए हैं; माया रूपी तूफान लगने से बिगड़ तो नहीं गये। यदि बिगड़ गये हों तो ज्ञान रूपी जल से तथा लक्ष्य रूपी लक्स साबुन (थ्र्ले-एर्दज) से आत्मा के चेहरे को फिर साफ कर लेना चाहिए। दिव्य गुणों पर ध्यान (ूाहूग्दह) रूपी कंघी फेर कर उन्हें सँवार लेना चाहिए। इस तरह ईश्वरीय कुल तथा दिव्य कुल की स्मृति के अतिरिक्त अथवा शिववंशियों ओर विष्णु-वंशियों के जो गुण होते हैं, उन्हें याद रखने के अतिरिक्त ब्रह्मा-मुखवंशी ब्राह्मण कुल को भी याद रखना चाहिए। और ब्राह्मणों में जो गुण

होते हैं या जो रीति होती है (तिलक लगाए रखना जो कि 'आत्मिक स्थिति' की निशानी है, चोटी बाँधे रखना जो कि चोटी के कुल की निशाननी है, मुख से ज्ञान के वचन बोलना आदि-आदि), परोपकार, सेवा करना आदि-आदि, उसे भी याद करना चाहिए। यह सभी भी तभी याद आएँगे जब पुरूषोतम संगम युग याद आएगा। क्योंकि संगम युग में ही तीनों कुलों के संस्कार भरे जाते हैं, अत: पुरुषोतम कल्याणकारी संगमयुग को याद करते हुए, ये याद करने से कि मैं सर्वोतम ईश्वरीय कुल तथा ब्राह्मण कुल का हूँ और वैष्णव कुल का बन रहा हूँ, मनुष्य आसुरी कुल के गुण तथा शूद्र कुल के गुण या रीति रिवाज से बचकर रहेगा। इसके लिए तथा बार-बार स्वयं को चेक करने और स्मृति दिलाने के लिए हमें बैज (ँा) तथा ऐसे वचन (श्दूदे) भी लगाकर रखने चाहिएं और प्रात: उठते ही तथा दिन भर में कई बार स्वयं से ये आठ प्रश्न पूछकर इस ईश्वरीय स्मृति को ताजा करना चाहिए:-

१. शिव बाबा याद है?

२. स्वर्ग की बादशाही अथवा ईश्वरीय वर्सा याद है?

३. लक्ष्य-श्री लक्ष्मी तथा श्री नारायण पद याद है?

४. पुरुषोतम संगम युग याद है?

५. ईश्वरीय कुल याद है?

६. पुरूषार्थ याद है?

७. कर्म-गति याद है?

८. याद की यात्रा पर हो?

यदि हम स्वयं में इन बातों की याद ताज़ा करते रहेंगे तो निश्चय ही हममें दिव्य गुणों की धारणा होती जाएगी और दोष दृष्टि (ण्ग्स्र्ह्त ाब) निर्दोष होती जायेगी। क्योंकि ईश्वरीय याद एक ऐसे इन्जेक्शन (ग्हराम्दह) की तरह है जिससे कि दिव्य-गुणों का इन्जेक्शन आत्मा में लगता जाएगा और कल्याण-कारी पुरुषोतम संगम युग की याद ऐसी चीज़ है कि उससे राजकुलोचित संस्कार आयेंगे तथा पुरुषार्थ में दिलचस्पी पैदा होगी और ब्राह्मण कुल की याद ऐसी है कि अपना यह विद्यार्थी जीवन, तथा गुणीजन का पुरूषार्थ रूप धर्म-कर्म याद आयेगा।

इस पर भी विशेष बात यह है कि गुण-ग्राहकता का भावार्थ है- गुणों का ग्राहक बनना। मनुष्य जब बाज़ार में जाता है तो उसके सामने दुकानों में कई चीज़ें रखी होती हैं और भान्ति-भान्ति के लोग भिन्न-भिन्न चीज़े खरीद रहे होते हैं। हरेक दुकान के शो-रूम में अथवा बाहर टोकरे में माल भरा रखा होता है। कोई ऊंची चीज़ का खरीदार होता है, और यदि ऊंची चीज़ न हो, उसके ढ़ंग का माल न हो तो वह खाली भले जी लौट आए परन्तु खराब माल नहीं लेता। परन्तु कई दूसरे भी लोग होते हैं कि सस्ती (ण्र्पेज) या बनावटी (ूग्म्र्म्त) या मिलावट वाली (ल्र्ल्ल्ा) चीज़ के खरीदार होते हैं और वे दुकानदारों से

स्पष्ट रूप से पूछते फिरते हैं- ''क्यों जी, दूसरे दर्जे (ाम्दर्ह्ी।) का माल नहीं है? सेठ जी, कोई सस्ती चीज़ दिखाओ। भाई साहब, मुझे इतना ऊंचा माल नहीं चाहिए, इससे नीचे दर्जे का कोई हो तो दिखाओ.....।'' अत: अब हमको पहले तो यह देखना है कि हम किस के और किस क्वालिटी के माल के खरीदार हैं? इस दुनिया रूपी बाजार में सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी संस्कार अर्थात् तीनों क्वालिटी के संस्कार मिलते हैं। दैवी, आसुरी और मानवी स्तर का स्वभाव, अवस्था, दृष्टिकोण या चाल-चलन हो सकता है। उतम, मध्यम और कनिष्ठ-तीन श्रेणियों के लोग हो सकते हैं। अत: हमें स्वयं से यह पूछना है कि हमें क्या चाहिए? हम किस चीज़ के ग्राहक हैं? यदि हम सही अर्थ में 'गुण-ग्राहक' हैं तो हम इस दुनिया रूपी बाज़ार में गुण ही लेंगे और वह भी वास्तविक न कि बनावटी। यदि हम देवता क्वालिटी के अथवा उतम क्वालिटी के अथवा सतो-प्रधान गुण चाहते हैं तो उसके लिए चाहे हमें कितना भी पुरुषार्थ रूपी दाम देना पड़े, हम उसे ही खरीदेंगे अथवा अपनाएँगे और जो चीज़ अपने मतलब की नहीं है, उसे छोड़ देंगे। अत: हमें अपने पर अथवा मन रूपी तख्ती पर लिख लेना चाहिए कि हम गुण-ग्राहक हैं और जो गुण सतो प्रधान देवताओं में अथवा श्री-लक्ष्मी और श्री-नारायण में थे या सर्वोतम ब्राह्मण-कुल में पुरुषोतम युग में होते हैं अथवा ईश्वरीय कुल में होते हैं, उसी के हम ग्राहक हैं, बाकी सब चीज़ हमारे काम, मतलब, पसन्द या ढंग की नहीं हैं। इससे हम अवगुण-दृष्टि से छूट जायेंगे, अर्थात् अवगुण देखते हुए भी उनके ग्राहक नहीं बनेंगे और दिव्य गुण ढूँढ़ेंगे, उनके लिए पुरूषार्थ रूपी मूल्य देंगे और उन्हें धारण करेंगे।

जिज्ञासु- बहन जी, यह चर्चा सुनकर मन को बहुत ही हर्ष और लाभ हुआ है परन्तु, मेरे मन में दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि यदि कोई हमारे सामने किसी की निन्दा करता है तो क्या हम उसे न सुनें? यदि वह निन्दा ठीक हो, अर्थात् उसकी भूल बताइ जा रही हो, तो क्या हम तब भी न सुनें? यदि हम न सुनें तो कई सुनाने वाले ही ऐसे होते हैं कि बिगड़ जाते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि यदि हम किसी में कोई दोष देखते हैं तो क्या हम किसी को न सुनाएँ? क्या उसकी गणना निन्दा में होगी?

ब्रह्माकुमारी- इस प्रश्न पर मैंने पहले भी आपको थोड़ा स्पष्टीकरण दिया था। यदि आपको कोई किसी की निन्दा सुनाता है तो या तो उसे सुनकर बाद में उस व्यक्ति को समझाकर उसे ठीक करो। यदि आप में इतना ज्ञान-बल और योग-बल नहीं है और आपको निन्दा सुनकर तुरन्त ही वह सच्ची लगने लग जाती है चाहे वह सच्ची हो या झूठी, वह आपके मन में बैठ जाती है और आपकी अपनी अवस्था को भी बिगाड़ देती है, तो फिर उसे सुनना ही नहीं चाहिए। उस व्यक्ति को कहना चाहिए कि जिससे इस बात का सम्बन्ध हो, आप उसे बताओ अथवा ज्ञान में जो बड़े भाई-बजन हैं उन्हें बताओ। मैं इस कचड़े को नहीं उठा सकता।

तुच्छ व्यक्ति से भी गुण-ग्रहण

यदि कोई किसी के बारे में दोष-वर्णन करता है तो पहिले तो यह देखना चाहिए कि बताने वालो का मूड (श्दद्) और आशय (ैग्स्) क्या है? क्या वह ईर्ष्या-द्वेष के वश, क्रोधान्वित होकर, बिगड़ कर, कड़े शब्दों में, चेहरा बदल कर, दु:खी मन से सुना रहा है और रिपोर्ट, शिकायत, चुगली के रूप में बता रहा है या शान्तचित होकर, साक्षी भाव से उस व्यक्ति का शुभ-चिन्तक बन कर उसे सुधारने के विचार (ैग्स्) से उसकी कोई भूल, त्रुटियाँ और बुरा संस्कार बता रहा है? इससे ही आप निर्णय कर सकते हैं कि वह 'निन्दा' है या उस व्यक्ति को सुधारने के लिए परामर्श है। यदि वह परामर्श अथवा सुझाव है तब तो उसे सुन कर समय, परिस्थिति तथा उस व्यक्ति की शक्ति के अनुसार उसे सशोधन भी देना चाहिए वर्ना उसे हमें नहीं सुनना चाहिए या सुनते हुए भी ध्यान नहीं देना चाहिए और चित पर तो बिल्कुल धारण नहीं करना चाहिए।

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी इसी में समाया हुआ है। हम शुभचिन्तक होकर, स्नेह-पूर्वक तो किसी की भूल, निर्धारित व्यक्तियों को बता सकते हैं।

जिज्ञासु- ठीक। बहन जी, इसी गुणा-ग्राहकता के विषय में अथवा दिव्य गुणों के विषय में और भी कुछ समझाना है?

ब्रह्माकुमारी- हाँ, गुण तो बहुत हैं पर एक दिव्य गुण का दुसरे दिव्य गुणों से सम्बन्ध है अथवा एक की धारणा से दूसरे दिव्य गुणों की धारणा होती है। मैं ने कुछ ही मुख्य गुणों का वर्णन किया है वर्ना शुभ-चिन्ता, एकता, स्नेह, निश्चय आदि अनेक महागुण हैं जिन्हें स्पष्ट रीति से समझने की जरूरत है। उनके बारे में भी समय-समय पर चर्चा होती रहेगी। परन्तु इन बड़े दिव्य गुणों के अतिरिक्त कई अच्छी आदतें (ैप्ू) या कार्य-विधि (ैंहही) या शिष्टाचार सम्बन्धी नियम (ैंल्लिा) आदि-आदि भी हैं जिन पर भी हमें पूरा ध्यान देना चाहिए। वर्ना उनकी अनुपस्थिति में हम में जो मुख्य दिव्य गुण हैं, वे भी छिप-से जाते हैं और लोक-संग्रह के विचार से भी वह आदतें अपने तथा दूसरों के लिए भी हानिकारक हैं। जो व्यक्ति गुण-ग्राहक होता है वह उन मैनर्स की धारणा पर भी पूरा ध्यान देता है; वह उन्हें छोटी-मोटी बात मान कर टाल नहीं देता है; क्योंकि वास्तव में वे भी किसी-न-किसी मुख्य दिव्य गुण के ही विविध रूप है।

जिज्ञासु- उदाहरण के तौर पर वह मैनर्स (ैंहही), आदतें, शिष्टाचार- सम्बन्धी नियम कौन से हैं?

ब्रह्माकुमारी- वैसे तो बहुत ही हैं। परन्तु आज मैं मुख्य रूप से पॉच बातों पर प्रकाश डालूँगी। जब दो व्यक्ति बात कर रहे हों उनके बीच में बोलना, या कोई व्यक्ति अपनी बात सुना रहा हो तो उसकी बात को बीच में काटना और बिना आज्ञा लिए अपनी बात शुरू करना। स्पष्ट है कि यह धैर्य अथवा गम्भी-रता न हो तो दूसरे की बात को पूरी तरह सुने बिना अपनी बात को न पचा सकने के कारण वह बीच में ही बोल पड़ता है। और, जिसमें नम्रता न हो वही दूसरों से आज्ञा लिए बिना बोल पड़ता है। जिस

व्यक्ति में नम्रता होती है, उसे यदि दूसरे की बात के बीच में कुछ कहना होता है तो वह इस प्रकार बात शुरू करता है- ''यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इस बात पर अपना विचार बताऊं।'' जो इतने शिष्टाचार को भी छोड़ देता है तो स्पष्ट है कि उसमें अपनी बात का अहंकार है, तभी तो वह अपनी बात को बढ़िया समझ कर रूके बिना, अधीर होकर असमय पर ही फैंक देता है।

२. समय का पालन न करना- मान लीजिए, कहीं कोई बैठक (इल्हम्दह) है या प्रोग्राम (साग्हु) है ; हमें वहाँ भाषण करना है और हमारी आदत है कि हम वहाँ समय पर नहीं जाते। प्रधान अथवा सभापति भी आ लेता है, परन्तु वहाँ हम देर से पहुँचते हैं। स्पष्ट है कि इसमें भी शिष्टाचार की कमी है (क्योंकि सभापति जी पहुँच गये और हम नहीं पहँचे!) और इसमें अभिमान, सुस्ती तथा अलबेलापन भी है। अभिमान तो इस रूप में हैं कि हम न सभपति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं, और न लोगों के समय की परवाह करते हैं, जो कि दूर-दूर से कष्ट उठाकर आयें हैं। आलस्य इस रूप में है कि हमने जो देर लगाई है, उसमें शायद शारीरिक या मानसिक सुस्ती ही कारण बनी है। या तो हमारे अलबेलेपन, 'बेबी-बुदिध्' और लापरवाही की आदत के कारण ऐसा हुआ है। इस पर भी विशेष बात यह कि इससे यह भी स्पष्ट मालूम होता है कि हम न अपने समय को मूल्य देते हैं न दूसरों के समय को । भले ही हम जानते और कहते हैं कि संगम युग का यह समय बड़ा अनमोल है अथवा यह मनुष्य-जीवन बड़ा अन-मोल है परन्तु प्रैक्टिकल जीवन में हम इस मन्तव्य को धारण नहीं करते। देखिये, एक ही आदत अथवा शिष्टाचार-विहीन कर्म में कितने अवगुण भरे पड़े हैं! ओह!! कितने दिव्य गुणों का लोप है!!!

३. समय तथा सामर्थ्य होते हुए भी दूसरों से स्थूल सेवा लेना- यह भी अभिमान तथा आलस्य का सूचक है। अभिमान होने के कारण ही मनुष्य समझता है कि अमुक व्यक्ति मुझसे छोटा है, मैं बड़ा हूँ, मैं उससे अमुक सेवा ले सकता हूँ अथवा उसका कर्तव्य है कि वह मेरी सेवा करे। या तो अपने आलस्य के कारण ही मनुष्य स्वयं अपने लिए कार्य न करके दूसरों से कराता है अथवा देह-अभिमान है, तभी वह सोचता है कि यह छोटे-मोटे कार्य मुझे थोड़े ही करने हैं, यह तो दूसरों को मेरे लिए करके देने चाहियें। बताओ, ऐसा व्यक्ति मन में धन्यवाद माने बिना (ऊर्ंहल्तेल्ब) दूसरों की सेवा लेता रहता है और वह कर्मों की गति को भी भूला हुआ होता है क्योंकि वह यह नहीं समझता कि मुझ पर दूसरे द्वारा सेवा लेने से कर्मों का बोझा चढ़ रहा है और मैं उससे विकार-युक्त कर्म-खाता भी जोड़ रहा हूँ।

४. कोई भी स्थूल या घटिया-सी सेवा बताए तो उसे करने से इन्कार कर देना- स्पष्ट है कि इसमें भी देह-अभिमान, शान और पोजीशन का भान तथा लोक-लाज आदि की भावनाएँ समाई हुई हैं।

५. दूसरों की बात को सम्मान न देना, उनसे आदर-पूर्वक पेश न आना अथवा ठीक रीति से उठना-बैठना – ऐसा व्यक्ति दूसरों की बात सुनते ही मुँह फेर लेता है। उसे अनसुनी कर देता है या जवाब न देकर बात बदल लेता है। स्पष्ट है कि यह भी स्नेह की कमी का, दूसरों के प्रति घृणा का, दोष-दृष्टि का

तथा अपनी बुदिध् के अभिमान का सूचक है। परन्तु जिस व्यक्ति में शिष्टाचार है, उसे यदि किसी की बात अच्छी न भी लगे तो वह दूसरों की बात सुनकर कहता है- '' आपकी बात ठीक है, परन्तु...'' इस प्रकार वह नम्रता पूर्वक अपनी बात दूसरों के आगे रखता है। इस प्रकार, मैंने कुछेक शिष्टाचार-सम्बन्धी मर्यादाएँ, आदतें, या गुण बताए हैं जिन पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

जिज्ञासु- बहन जी, मैं शिव बाबा का हार्दिक धन्यवादी हूँ, क्योंकि उन्होंने हमारे जीवन को उच्च बनाने के लिए इतनी सब अनमोल युक्तियाँ समझाई हैं!

ब्रह्माकुमारी- शिव बाबा को तो हम कोटि-कोटि बार धन्यबाद करते हैं ही, इसके अतिरिक्त हम ब्रह्मा बाब का भी बहुत-बहुत धन्यबाद करते हैं क्योंकि पुरुषार्थ का प्रैक्टिकल स्वरूप तो हमने उनके जीवन में देखकर सीखा हैं। निराकार शिव बाबा तो पवित्रता और दिव्य गुणों की धारणा की अनमोल युक्तियाँ सिखाते हैं, परन्तु पवित्र, दिव्य गुण-सम्पन्न, अथवा कमल पुष्प के समान जीवन किसे कहते हैं- इसका साकार उदाहरण अथवा आदर्श तो हमें ब्रह्मा बाबा और मम्मा (जगदम्बा सरस्वती) के जीवन में मिला। ब्रह्मा बाबा और सरस्वती मैया ने हमारे लिए कितना विरोध सहन किया और कितनी कठिनाइयाँ झेलीं! उन्होंने हमें कितने स्नेह, प्यार, लाड़ और हँसी-खेल से इस गहन विद्या में प्रवीण बनाया- ये प्रैक्टिकल कहानी बड़ी अद्भुत है। उन्होंने हमारे जीवन की मिनट-मिनट की विकट सम-स्याओं को ऐसा सहज तरीके से हल किया जैसे कि मक्खन से बाल निकाला जाता है। इन दिव्य गुणों की धारणा हमने उनके प्रैक्टिकल जीवन में देखी तभी तो हमारी हिम्मत बँधी कि हम भी पुरुषार्थ करने से ऐसे बन सकते हैं। अव्यक्त अवस्था क्या होती है, वह भी हमने उनके जीवन को देखकर समझा। परन्तु, हाँ, यह सारी शिक्षा और निर्देश शिव बाबा से ही मिलते रहे!

जिज्ञासु- जी हाँ। बहन जी, हम ब्रह्मा बाबा का भी बहुत ही धन्यवाद करते हैं। बहन जी, यह 'अव्यक्त अवस्था' क्या होती है? -यह थोड़ा और समझा दीजिए। मैं शिव बाबा की ज्ञान-मुरली में भी कई बार इसके बारे में सुन तो चुका हूँ परन्तु मुझे इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं है और इस अवस्था को प्राप्त करने की युक्तियाँ भी मालूम नहीं हैं।

ब्रह्माकुमारी- 'अव्यक्त' उसे कहते हैं जो स्थूल न हो, प्रकृतिकृत न हो या जो इन चर्म-चक्षुओं से न देखा जा सके। अत: अव्यक्त अवस्था 'आत्मिक' अवस्था का ही दूसरा नाम है क्योंकि 'आत्मा' कोई स्थूल वस्तु नहीं है बल्कि सूक्ष्म और प्रकाशमय है; आत्मा प्रकृतिकृत नहीं है बल्कि दिव्य है, प्रकृति से न्यारी एक सत्ता है; आत्मा इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देखी जा सकती। इसी अव्यक्त अवस्था को 'विदेह अवस्था' भी कहते हैं क्योंकि 'विदेह' का अर्थ है-देह रहित अथवा 'अशरीरी'। देह में होते हुए भी देह का भान अथवा स्थूल-भाव न हो, इसे ही विदेही अवस्था, आत्मिक अवस्था या अव्यक्त अवस्था कहते हैं।

जिज्ञासु - यह अवस्था कैसे प्राप्त हो ?
ब्रह्माकुमारी- आत्मिक स्मृति से। ''मैं एक चेतन ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ, मैं लाईट का एक चेतन तारा (स्टार) हूँ, मैं ज्योति-बिन्दु परमात्मा की सन्तान हूँ, ज्योति-देश (ब्रह्मलोक) से इस सृष्टि-मंच पर आया हूँ, अन्य भी सभी देह-धारी वास्तव में आत्माएँ ही हैं'' - इस स्मृति में रहने वाले की अवस्था भी आत्मिक, अव्यक्त अथवा विदेह स्थिति होती है क्योंकि कहावत भी है कि- ''जैसी स्मृति वैसी स्थिति।''
जिज्ञासु- इसके लिए और क्या पुरुषार्थ है ?
ब्रह्माकुमारी- मुख्य रूप से तो स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करना तथा परमपिता परमात्मा को और अपने ब्रह्मधाम को याद रखना, यही पुरुषार्थ है। वास्तव में सारे ज्ञान का सार ही आत्मा-निश्चय-बुदिध् (एदल्त्-म्दहेम्ले) बनना तथा एक ज्योति-बिन्दु परमात्मा ही की अव्यभिचारी याद में रहना है। इसी पर मनुष्य के सारे भविष्य का आधार है। यइ हमारी अतुल कमाई का साधन है। इसी से ही हम माया के साथ हो रहे युदध् को जीत कर जगतजीत बनेंगे। इय अव्यक्त अवस्था बहुत ही मधुर है। यह संकल्प-विकल्प से न्यारी, इच्छा-तृष्णा से रहित, मान-अपमान से उपराम, विकारों से निवृत, बहुत ही खुशी की अवस्था है जिसमें मनुष्य स्वयं को बहुत ही हल्का, वायु के समान अनुभव करता है, उसमें कार्य करने की स्फूर्ति, आत्म-विश्वास तथा शक्ति भरी होती है और वह स्वयं को एक फरिश्ता बनता हुआ अनुभव करता है।
मैंने जितने भी दिव्य गुणों की धारणा आपको बताई है, वह सभी इस अवस्था के लिए सहायक हैं और आवश्यक हैं। मैंने पिछले सप्ताह पवित्रता के लिए जो पुरुषार्थ आपको बताया था, वह भी इसमें समाया हुआ है। फिर भी आपने इसके लिए पुरुषार्थ के बारे में पूछा है इसीलिए आज केवल संक्षेप में कुछ बातें बताऊंगी।
एक तो सदा यह याद रखना चाहिए कि अब हम वापसी यात्रा (ॅूल्हि व्ल्दैहाब) पर हैं। मैं आत्मा देह-रहित ही इस संसार में पृथ्वी-मंच पर आई थी। अब मेरा पार्ट पूरा हुआ, अब नाटक का अन्त होने वाला है, अब फिर मुझे विदेह होकर जाना है।
आहार अथवा भोजन हल्का लेना। भोजन नष्ट नहीं होना चाहिए, न बार-बार लिया जाना चाहिए न इतनी मात्रा में लिया जाना चाहिए कि भारीपन अथवा आलस्य का अनुभव हो।
कार्य-व्यवहार भी बहुत अधिक नहीं फैलाना चाहिए। बल्कि अपने योगाभ्यास, ज्ञान के अध्ययन, ईश्व-रीय सेवा आदि के लिए भी अवश्य ही पर्याप्त तथा अनुकूल समय निकालना चाहिए। कार्य-व्यापार आदि के दौरान में भी बीच-बीच में कुछेक मिनट निकाल कर स्व-स्थिति तथा ईश्वरीय स्मृति पर ध्यान देना चाहिए।

कर्म अनासक्त वृति से तथा न्यासी (ऊँलूा) भाव से करने चाहिएं, कार्य की प्रशंसा या सराहना की इच्छा नहीं करनी चाहिए, बल्कि यह सोचना चाहिए कि गुप्त सेवा का हज़ार गुणा अधिक महत्व है।

जो कुछ होता है, उसे 'भावी' समझकर साक्षीभाव से रहना चाहिए। कल्प पहले भी ऐसे हुआ था, फिर भी ऐसे होगा, यह कोई नई बात नहीं है (ऱ्दूप्हु हौ) -इस निश्चय में सदा स्थित रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त नष्टोमोह: और निराकारी-निरंहकारी स्थिति में रहना चाहिए तथा ज्ञान का मनन, विचार सागर का मंथन और एकान्त का सेवन करना चाहिए। इन-इन युक्तियों से अव्यक्त अथवा विदेह अवस्था होती है।

जिज्ञासु- बहन जी, विचार-सागर का मंथन किस प्रकार किया जाये ?

ब्रह्माकुमारी- यह विस्तार का विषय है, इसके बारे में फिर कभी बताया जाएगा। अच्छा, ओम शान्ति!

जिज्ञासु-ओम शान्ति!

कदम-कदम में पदम-पदम!

कहते हैं कि जो मनुष्य महान् अथवा सौभाग्यशाली होता है, उसके पावँ में पदम का चिह्न होता है। इस कहावत पर यदि आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो ''कदम में पदम'' का भावार्थ ''हरेक कर्म में पवि९ता का होना अथवा चाल-चलन में दिव्य गुणों का होना है'' क्योंकि पदम पवित्रता और दिव्यता का प्रतीक है और पवित्रता से ही महानता तथा सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

जिस मनुष्य के कदम में पदम होता है, उसे हरेक कदम में पद्म-पद्म की कमाई होती है क्योंकि हरेक दिव्य गुण पदम रूपयों के मूल्य के बराबर है। उदाहरण के तौर पर 'त्याग' रूपी गुण पर विचार किजिए। जब संन्यासी लोग त्याग कर जाते हैं तो पदम-पति लोग जाकर उनके कदमों पर झुकते हैं। त्याग से मनुष्य को वह उच्च प्राप्ति होती है कि राजा लोग भी उसके लिए राज्य छोड़ जाते हैं। इसी प्रकार सहनशीलता भी बहुत अनमोल गुण है। महात्मा गाँधी, भारत के अन्य नेताओं तथा स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिकों नें विदेशियों के अत्याचारों को सहन किया और उसके फलस्वरूप पदमों रूपयों की सम्पति वाले सारे भारत देश को, जिसमें देशी राजाओं का भी राज्य था, अपने हाथ में कर लिया। आज महात्मा गाँधी के नाम पर गाँधी मेमोरियल, गाँधी सदन, महात्मा गाँधी रोड, नगर-नगर में पदमों रूपयों के स्मारक आदि बने हुए हैं। गम्भीरता का गुण भी पदमों रूपयों के मूल्य वाला है। यदि देश के सेना-अध्यक्ष, प्रधान-मंत्री आदि गम्भीर न हों, वे देश के गोपनीय रहस्यों को दूसरों को बतला देने वाले हों, तो देश की सेना, विपुल साधन होते हुए भी हार जाती है और देश का दूसरे देशों से सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाता है।

धैर्य से यदि किसी बात पर विचार न किया जाय तो जल्दबाज़ी में मनुष्य की जान भी चली जा सकती

है और करोड़ों रूपयों की सम्पति का नाश हो सकता है। अत: गुणवान व्यक्ति में कदम-कदम में पद्म भी हैं और पदम भी हैं।

''मुझे आप तीन व्यर्थ चीजें दे दो!''
''वत्सो! मैं आपसे कोई काम की चीज़ नहीं माँगता। मैं केवल इतना कहता हूँ कि आप आठ घण्टे भले ही काम-धन्धा करो और आठ घण्टे आराम, निन्द्रा में लगाओं परनतु बाकी जो आठ घण्टे बचे हैं-वह व्यर्थ के गपशप में न लगाकर ईश्वरीय ज्ञानाध्ययन एवं योगाभ्यास में लगाओं तो आपके अविनाशी प्राप्ति होगी।
दूसरे, आप धन द्वार अपनी आवश्यकतायें अवश्य पूरा करो। परन्तु, आप जो धन पहले व्यर्थ के रस्म-रिवाज, चरित्र को बिगाड़ने वाले व्यसनों, सिनेमा, आदि में लगाते थे, अब वह धन अपने तथा अन्य आत्माओं के आत्मिक-कल्याण के कार्य में लगा दो!
तीसरे, मैं कहता हूँ कि जिन काम-क्रोधदि के कारण आप कंगाल बने हैं, इन दु:खदायक संस्कारों को मुझे दे दो ताकि आपका मन खाली होने पर मैं उसमें पवित्रता, दिव्यगुण, सुख-शान्ति का खजाना भर सकूँ!!!
वत्सो! यदि अपना तमोगुणी, वासना से पैदा हुआ तन, दु:खी मन और कुछ ही वर्षों में नष्ट होने वाला धन विश्व-कल्याणार्थ लगाने में आपका हृदय विदीर्ण होता है तो मुझे पूर्वोक्त तीन व्यर्थ चीजें दे दो, उससे भी आपका कल्याण हो ही जायेगा क्योंकि मैं आपको दिव्य गुणों का अविनाशी वरदान दूँगा।
वत्सो, अन्ते सब-कुछ नष्ट तो होना ही है, इसलिए यदि स्वेच्छा से दे दोगे तो इस अविनाशी 'त्याग' से सर्वोतम भाग्य बनेगा।
-निराकार परमात्मा
(प्रजापिता ब्रह्मा के कमलमुख द्वारा उच्चरित)